



श्रीमद् आचार्यपरम्परा श्रीरंजितदासविद्वान्

# रससासार

प्रस्तावकः—

श्रीधरलक्ष्मणदासजी महाराज

प्रकाशकः— भीष्मलक्ष्मणजी,

मंत्री-भाषी एरी मार्ग देवकान्त पंडितम्, मद्रास

मद्रासीय विज्ञान-प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता ।

Sethia Jain Library

PERMANENT

Serial No

Index No 27

सूत्रक— भीमाल वैन काश्मीरियं

भैरवसिद्धान्त प्रथमस्कन्ध त्रैलोक्य

कलकत्ता

मुरि श्री सावित्रिमाताय नमः ।

ॐ नमो नमो नमो

## आद्य निवेदन

बहुरूपकार नामक ग्रंथ प्रकृत भारतमें प्रकृतन श्रीगुरुदेव कानिने निर्माण किया है ।  
इस छोटेसे ग्रंथ ग्रंथमें आश्चर्यपूर्ण व सुनिश्चित रूप रहस्य लभीर और म्युर भारतमें ब्रह्मज्ञान -  
ना हुआ है ।

रूपकार दोहा की प्रकृतन रचना मिल महाप्रकारने की है यह रूप रहा नहीं जाना है  
तो भी रूपकार दोहा मूल प्रथिने "पं० महाप्रकार" रूपकार दोहा" ऐसा उल्लेख है । 71  
सदाप्रकृतीका विशेष विवरण ब्रह्मण होनेसे विशेष करनेमें सम्पूर्णता है । दोहों की प्रकृतन  
अंतर लावसे कही कही पर प्रकृतन है परंतु सर्वप्रथिने मावर्तुं और इतरप्रकृतिली है ।

—शुक्लक मानमागर

सूत्रक— भीलाल बैन फाक्यतीर्थ

बैनसिद्धान्त प्रकाशक प्रेस

कलकत्ता

गुरि श्री शक्तिमागसाय नमः ।



## आद्य निवेदन

यह रणसार नामक ग्रंथ प्राप्त भागमें समाप्त श्रीसुंदरुंद स्वामीने निर्माण किया है।  
रस छोटेसे सूत्र ग्रंथमें आश्चर्यमय व मुनिधर्मका गूढ रहस्य गम्भीर और गुरुर भागमें ओजप्रयोग  
नसा हुआ है ।

रणसार दोहा की पद्यात्मक रचना किन् महाबुद्धाने की है यह स्पष्ट नहीं जाता है  
तो भी रणसार दोहा गूढ प्रतिये "प० सदासुपुष्टा रणसार दोहा" ऐसा उल्लेख है । पर  
सदासुपुष्टीका विशेष विवरण अज्ञान होनेसे विवेचन करनेमें असमर्थता है । पर  
छंद शास्त्रमें कहीं कहीं पराशरविज्ञ है परंतु अर्थदृष्टिमें भावपूर्ण और हृदयदारिणी है ।

## कीर्तिध्वनि ।

शास्त्रापाटननिवासी श्रीमानमेठविने दीराम बालचंदजीने स्वर्गीय सुपुत्र दीपचंदजीके श्रानावरणीय कर्म ध्ययार्थ संस्थाको शास्त्रीद्वारा करनेके लिये ४०१ रु. दिये थे । उसी द्रव्यसे "मकरध्वज पराजय" नामक नाटकका जीर्णोद्धार ( प्रकाशित ) हुआ था । उस ग्रंथकी लागत उठआने पर अब यह "रयगसार" नामक ग्रंथ उक्त सेठजीके स्मरणार्थ प्रकाशित किया जाता है ।

यद्यपि इस समय उक्त स्वर्गीय सेठ दीपचंदजी सा० इस नगर पर्याप्त नहीं है परन्तु उनके अनुकरणीय दान और नामको ये ग्रंथ सदाही कीर्तित करते रहेंगे ।

इस ग्रंथकी न्योछावर उठ आनेपर फिर अन्य किसी ग्रंथका जीर्णोद्धार होगा । इस तरह एक चार दिये गये दानसे संकटों वर्ष पर्यंत जैन शास्त्रोंका प्रचार होता रहेगा । अतः इस परिपाटीसे लाभ उठानेकी इच्छा रखनेवाले और सुलभमें धीमेनशास्त्रोंका प्रचार चाहने वाले भाइयोंको अपनी अपनी शक्ति अनुसार किसीभी एक जैन शास्त्रके उद्धार करनेके लिये सहायता देनी चाहिये ।

नियेदक

पेशाब घरी ११

दौर १९३१ ए २४५४

भीलाल जैन काव्यतीर्थ

आपनेही संघी-सा • जैनविज्ञानपरामर्शिका •



श्रीचीनरगाय नमः ।

# आरयशासार



एमिअण वद्धमाणं, परमण्याणं जिणं तिसुद्धेण ।  
सोच्छामि रयणमारं, मायारणयारघग्ग्भीणम् ॥१॥

संयत्त भित्तेरत्ते, एत्तएवएवएव तिसुद्धे ।

एदि एत्तएव एत्तं सुद्धे, एत्तएवएव एत्तं ॥१॥



अर्थ—श्री परमात्मा वर्धमान जिनेन्द्रदेवकी मनत्रचनकायकी शुद्धिसे नमस्कार कर गृहस्थ और धुनिके धर्मका व्याख्यान करनेवाला 'रयणसार' नामका ग्रन्थ करता हूँ ॥२॥

पुत्रं जिणेहि भणियं, जहड्डियं गणहरेहि वित्तरियं ।  
पुत्राहरियकमजं, तं बोल्लइ जोहु सद्धिठी ॥२॥

जो जिनवरने कहा, माया गणधर देव ।

धनुक्रम पूर्वाचार्यके, सम्पगृष्टि कहेव ॥२॥

अर्थ—सर्वस्र जिनदेवने अपनी दिव्यध्वनिसे यथार्थ उपदेश दिया था, चाशानके धारक श्रीगणधर देवने उसीका विस्तार कर अल्पश्रुती जीवोंको समझाया था । उसके बाद उत्तरोत्तर आचार्योंने उसी पदार्थका निरूपण किया, इस तरह पूर्वाचार्योंकी परंपरा चली आई । इस परिभाषाके अनुसार जो बोलता है, भ्रमान करता है, वह सम्पगृष्टि है ।  
भावार्थ—श्री सर्वस्र जिनदेव और गणधरदेवके पीछे उत्पन्न होनेवाले आचार्योंने भी वीतरागभावसे सर्वस्रके वचनोंका ही प्रतिपादन किया है । इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रारक

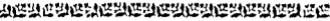
है और धृता करने योग्य है। उन वचनोंमें जीर्णोक्ता कल्पण होता है। जो सर्वध-  
 देसके वचनोंमें चीतरागमायें पद्यगत रहित प्रतिपादन करता है वह सम्यग्दृष्टी है।  
 मोक्षमार्गानुमारी मग्य वचन करनेवाला प्रासानिक है किंतु जो मुनि ब्रह्मचारी या  
 बंदिन त्रिनागनके वचनोंको अपने विषय कथाय मान बढ़ाई रागद्वेष और पक्षपात-  
 मार्थोंमें ब्रह्मवा प्रस्तुता करता है, अर्थका विपरीत अर्थ करता है, वह मिथ्या-  
 रहित तैत्तरीयमें बरिसूत है।

मरिसुराणाजबलेण दु सच्छंदं वोहर्हं जिणुत्तमिदि ।  
 जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमगलमगरवो ॥३॥

मनि पुन हल एवम सुद्धद, म्मे निज उदरिह ।

जो सो होइ कुदिट्ठी नर, नदि त्रिनमराण ण ॥३॥

अर्थ—जो प्रवृत्त्य पतिमान या श्रुतमानके अभिमानमें धी त्रिनेन्द्रेच द्वारा प्रविषादित  
 अर्थको सच्छन्द ( अपने मनकल्पित यदा यदा विकृदायं अथवा आगमके मत्यार्थको  
 छिदा पर मिथ्या अर्थकर ) करता है वह मिथ्यारहणी है। पर त्रिनर्चमेंका पालन-



क्रता हुआ भी जैनधर्मसे सर्वथा पराहस्युक्त है, जैनधर्मसे बहिर्भूत है, मिथ्यावादी है !  
 भावार्थ—जिनको बुद्धि व ज्ञानकी प्रखरता है परन्तु दर्शनमोहनीयकर्मका  
 जिनके उदय है, ऐसे जीव जैनधर्मको धारण करके भी अपने ज्ञानके मिथ्या अभि-  
 मानसे श्री जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित अर्थके स्वरूपको अन्यथा ( आगमके  
 विरुद्ध ) कहते हैं, वे मिथ्यावादी हैं ।

जो विषय कपाय मान पढ़ाई आदि स्वार्थके वश होकर अथवा किसी कारणसे  
 रागद्वेषके वश होकर अपने ज्ञानके अभिमानसे आगमके अर्थको अपने मनकल्पित  
 अर्थके द्वारा अन्यथा प्रतिपादन करते हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

स्वरूप-विपर्यास, भेद-विपर्यास, लक्षण-विपर्यास, कारण-विपर्याससे वस्तुका  
 स्वरूप अन्यथा हो जाता है । जो रागी देवी पक्षपाती मनुष्य कुशिक्षा प्राप्त कर  
 ज्ञानके मद्में विवेक और विचार रहित हो कर विषयकषायोंकी पुष्टिके लिये जिना-  
 गमका अर्थ विपरीत करता है या अपने मन-कल्पित अर्थको जिनागमका स्वरूप  
 बतला कर बन्तुस्वरूपमें विपर्यास उत्पन्न करता है वह पापी है, जैनी हो कर भी जैन-  
 धर्मसे बहिर्भूत मिथ्यावादी है । और जो मनुष्य सदाचारका-नीति-चास्त्रि और

है, कर अपनी पाप-बाधाजाको मित्र मानेके लिये जिनका धारण करे

रक्षक बलता कर त्रिनागमको मास द कर त्रिनागम पर श्रवणवाद लगाता है, वह भी पापी त्रिनर्भमे बहिर्भूत मिथ्यास्थी है।

जो मनुष्य तर्क या युक्तिके बल पर हिंसा हूड और पापाचरणोंको धर्म सिद्ध करता है वह भी मिथ्यास्थी है तथा जो त्रिनागमको अपनी युक्ति पर ही सिद्ध करना पारता है वह भी मिथ्यास्थी है।

सम्प्रतरयणसारं मोक्षमहारसमूलमिदि भणियं ।  
तं जाणिञ्चिह्निच्छयवचहारसरुत्वदो भेदं ॥ ४ ॥

सूत्रचित्त रत्न सुसार मा, बलो मोक्षामूल ।

सो निश्चय न सरुत्वे, व्यवहार सु कतुदूल ॥ ४ ॥

अर्थ—सम्प्रदायदर्शन ही समस्त रत्नोंमें सागभूत रत्न है और वह मोक्षरूपी वृक्ष का मूल है। सम्प्रदायदर्शनके निश्चयसम्प्रदायदर्शन और व्यवहारसम्प्रदायदर्शन इस प्रकार दो भेद है।

मार्गार्थ—शब्द और आभ्यन्तर कारणोंके निमित्तसे जीवोंके परिणामोंमें जो विद्यमान प्राज्ञ होनी है उनमें आत्माकी मनीति आत्मानिरुचि और आत्मिक गुणोंकी

श्रद्धाका होना निश्चयसम्पददर्शन है। तथा आत्माके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले सन्चे देव द्वास्त्र और गुरुका श्रद्धान करना व्यवहार सम्पददर्शन है।

आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, उन गुणोंमें एक सम्पददर्शन भी आत्माका गुण है। वह आत्माको अपनी आत्माके स्वभावमें स्थिर कराता है और उससे आत्मा अपने स्वरूपमें परिणमन कराता है, अपने आत्मगुणोंमें अभिरुचि कराता है और पर पदार्थोंको अपनेसे भिन्न समझ कर अपनाता नहीं है यही सम्पददर्शन है।

भयविसणमलविवर्जिय संसारसरीरभोगणिञ्चणो ।  
अट्टगुणंगसमगो दंमणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥ ५ ॥

सात विसन भयमल रहित, विल भोगभवदेव ।

वसुगुण पूरण पंचगुरु, भक्ति सुदर्शन एव ॥ ५ ॥

अर्थ -सात व्यसन, सात प्रकारके भय और पञ्चीस शंकादिक दोषोंसे रहित तथा संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्तभाव और आठ निःशंकादिक गुणों सहित एव परमेशीने

णियसुहृणपुरतो वहिरप्यावच्छ्वच्चिओ णाणी ।  
 जिणमुणिघर्म्मं मण्णइ गइदुअस्सी हांइ सहिठी ॥६॥

त्रिभु सुदाएण अतुरअत्त, भदिर अवाए न कोर ।

सुवअनन त्रिन मुनिघएम, एमदिठि निरअदुत्त होर ॥ ६ ॥

अर्थ—जो विषाएत्रीत मण्यात्मा अपनी आत्माके शुद्ध स्वभावमें अतुरक्त (तन्मय) होता है और पर परार्थबन्धु पुद्गल्लोककी द्युमाद्युस पर्यायोंसे विरक्त होगा है, जो श्रीत्रिनेत्र मण्णान् निर्मैय (नग्न) गुरुतया जिनघर्म्मको प्रदामाव भक्ति-रसक मानता है वह संसारके समस्त प्रकारके दुःखोंसे रहित सम्यग्दृष्टी है ।

मासार्थ—दुद्धदुद्ध वायुके स्वभाव परमवीरगण आत्माके स्वभावमें तन्मय हो कर देव धर्म गुरुकी प्रीतिमें वीतराग परिनिर्भे स्थिर होनेकी भावना करना सो मण्णदुग्गंज है ।

मयमूढमणाएदण मंकाइअसणभयमईएारं ।

जेसिं चउदाहेरो ण मंति ते होति मंदिठी ॥७॥

भय भद्र मद्रुमानायतन, शंकादिक श्रुतीचार ।

बिसन जागु नहि चालचतु, सो समदिष्टी सार ॥ ७ ॥

अर्थ-- जिनके आठ मद्र, तीन मूढता, छह अनायतन, आठ शंकादिक दोष, सात व्यसन, सात प्रकारके मय और पांच अतीचार ये चवालीस दूषण नहीं हैं वे सम्यग्दृष्टी हैं ।

उदयगुणवसणभयमलवेरगाइचारभक्तिविग्धं वा ।

एदे सत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया \* ॥ ८ ॥

अर्थ--आठ मूलगुण और बाह्य उत्तर गुणों ( वारहद्वय-अणुद्वय, गुणद्वय, शिक्षाद्वय )का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्वके दोषोंका परित्याग, बारह वैराग्यभावनाका चित्तवन, सम्यग्दर्शनके पांच अतीचारोंका परित्याग, भक्तिभावना, इस प्रकार दर्शनको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी श्रावकके सत्तर गुण हैं ।

देवगुरु।मयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचिता ।

रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुव सिवसुहं पत्ता ॥ ९ ॥

\* यह वाक्य प्राचीन लिखित प्रतिपादित नहीं है तथा जोर करके इलक बोले नहीं जायेंगे हैं





पूजा शील उपवास मत, बहुधा अथ मुनिरूप ।

समकित संतुत मोक्षसुख, विन समकित भवकूप ॥ १० ॥

अर्थ-दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास अनेक प्रकारके मत और मुनिलिंग धारण आदि सर्व एक सम्पददर्शन होने पर मोक्षमार्गके कारणभूत हैं और सम्पददर्शनके बिना उप वप दान पूजादि सर्व कारण संसारको ही बढ़ाने वाले हैं ।

दाणं पूजा मुखं सावयधमे ण सावया तेण विणा ।

ज्ञाणाश्रयणं मुखं जहधमं ण तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥

श्रावक धर्म सुश्रावण, दान पूजमुख जानि ।

ध्यानाश्रयन जती सुमुख, तिन विन दुह न मानि ॥ ११ ॥

अर्थ-मुपायमें चार प्रकारका दान देना और थी देव शास्त्र गुरुकी पूजा करना आवश्यक मुख्य धर्म है । जो नित्य इन ( दोनों ) को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा सम्पदही है तथा ध्यान और जिनानामका स्वाध्याय करना मुनीश्वरोंका मुख्य धर्म है । जो मुनिरात्र इन दोनोंको अपना मुख्य कर्तव्य समझ कर अरहित्य प्राप्त कर लेता है वही धर्मात्मा है ।

संलग्न है। यदि श्रावक दान नहीं देता है और न प्रतिदिवस पूजा करता है यह श्रावक नहीं है। जो सुनीश्वर प्यान और अध्ययन नहीं करता है वह सुनीश्वर नहीं है।  
 मावार्थ—श्रावककी पहिचान ( लक्षण ) दान और पूजासे होती है और सुनि-  
 श्वोकी पहिचान प्यान और अध्ययनसे होती है।

दाणु ण घम्मु ण चाणु ण भोगुण वहिरण्ण जो पयंगो सो ।  
 लोहकसायग्गिगमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो ॥१२॥

दान न धर्म न न भोगुण, लो पंग वरिण ।

छोम कराय हुत्तासमुत्त, परे मरे विम्भत्त ॥१२॥

अर्थ—जो श्रावक सुपात्रमें दान नहीं देता है, न अष्टमूल गुणप्रतःसंपन्न पूजा  
 आदि अपने धर्मका पालन करता है और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है वह  
 बरिसारत्ता है विप्यारथी है। जैनधर्म धारण करने पर भी जैनधर्मसे बहिर्भूत है। वह  
 लोमकी तीव्र अग्निमें पयंगके समान पट कर मरता है इतमें संदेह नहीं है।

मावार्थ—जो श्रावक परस्पर विरोध रहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थको सेवन

करता है वह मोक्षमार्गमें संलग्न है, सम्पद्यष्टी है । किंतु जो श्रावक मोक्षके षट् हो कर धर्म सेवन नहीं करता है और सुपात्रमें दान नहीं देता है तथा न मगगानकी पूजा ही करता है । फलु खाना पीना आदि सर्व भूलकर फेरल घन कमनिमें ही अरना जीवन पूर्ण करता है वह लोभी निंतर हिंसा आरंभ आदि पोर पापोंको ही संयादन कर संसारमें अमण करता है ।

निणपूजा सुणिदाण करेह जो देह सचिरूत्वेण ।  
सम्माइद्धी सावय धम्मी सो होइ मोक्समगरओ ॥१३॥

यत्र धरे जिन दान मुनि, देर सञ्जि अनुसर

समद्यष्टी श्रावक धरम, सो उतरे मक्खर ॥ १३ ॥

अर्थ— जो श्रावक अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिवस देव, गान्ध, गुरुकी पूजा करता है और सुपात्रमें चार प्रकारका दान देता है वह सम्पद्यष्टी श्रावक है । दान देना तथा पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है । जो भक्तिभाव और भद्रा पूर्वक अपने धर्मका पालन करता है सो मोक्षमार्गमें धीम ही गमन करता है । संसार संस्रसे पार हो जाता है ।

पूयाफलेण तिल्लोके सुरपूज्जो हवेह सुद्धमणो ।  
दाणफलेण तिल्लोए सारुहुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

फलसुध पूजे सासफल, त्रिनग ईस करि पूजि ।

दान फले त्रिलोक मधि, नियमसार सुख मूजि ॥१४॥

अर्थ—जो छुद मायसे अद्दा पूर्वक पूजा कराता है वह पूजाके फलसे त्रिलोकके  
अपीउ व देवताओंके इन्द्रोसे पूज्य हो जाता है और जो सुपात्रमें चार प्रकार दान  
देता है वह दानके फलसे त्रिलोकमें सारभूत उत्तम सुखोंकी मोगता है ।

दाणं भोयणमेचं दिग्णह घण्णो हवेह सायारो ।  
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारिण ॥१५॥

दीने भोजन मात्र दत्त, होत धन्य सागर ।

पात्र भगान विदेय सत्त, दरशन कौन विचार ॥१५॥

अर्थ—भोजन (आहार दान) दान मात्र देनेसे ही भावक धन्य कहलाता है । पंचा-  
शर्षकी प्राप्य शोवा है, देवताओंसे पूज्य होता है । एक त्रिनलिंगको देसकर आहार-  
दान देना चाहिये । त्रिनलिंग धारण करने पर पात्रापात्र की परीथा नहीं करनी चाहिये ।

भावार्थ—सर्वप्रकारके पस्त्रिह और आरंभरहित नग्न दिग्भर जिनलिंगको धारण करनेवाले मुनीश्वरों को आहारदान देनेके प्रथम यह विचार करना कि ये मुनीश्वर द्रव्यलिगी हैं या भावलिगी हैं। जबतक इनको पूर्ण परीधान होजायगी तब तक इनको आहार नहीं देना चाहिये। अथवा जिनलिंग धारण करनेवाले बीतराग निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों की परीक्षा कर आहारदान की प्रशुचि करना आदि समस्त विचार सम्यग्दृष्टीके लक्षणसे विपरीत भाव समझने चाहिये।

पाम निस्पृह-बीतराग-आरंभ परिग्रह रहित मुनीश्वरोंके छिद्र देखना, अपनी बुद्धि और तर्कके द्वारा जिनलिंगके विषयमें आगमके विपरीत भावोंको प्रदर्शन कर जिनलिंग धारण करने वाले मुनीश्वरोंकी परीक्षा करना आदि सप मिथ्यात्वकर्मका उदय है। आहारदान प्रदान करनेके लिये इस प्रकार कुपेष्टाओंके द्वारा जिनलिंगको धारण करने वालोंके उत्साह और वारिशको मंद करना भी मिथ्यात्वका कार्य है।

जिनलिंगका देखते ही उसको सुपात्र समझकर भक्ति भाव और थडा पूर्वक न्यवा-गुणसे आहारादि दानको देना श्रावकका धर्म है। श्रावकके लिये भीक्षुंरक्षुंरमाग-वान् की यही आज्ञा है कि जिनलिंग ही सुपात्रका चिह्न है। श्रावकको आहारदान देनेके लिये जिनलिंगको देखकर फिर यह द्रव्य लिगी सुपात्र है इंग प्रकारकी परीक्षा करनेका कोई भी अधिकार नहीं है और न इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये।

दिग्णह सुपत्तदाणं विससतो होह भोगसग्गमही ।  
 णिव्वाणसुहं कमसो णिद्धिदं जिणवग्गिदेहि ॥ १६ ॥

दीन दान सुत्ताय गा, भोगभूमि पुरभोग ।

अनुक्रमते निरथान सुख, सब जिन कलन विभोग ॥१६॥

अर्थ—सुपात्रको दान प्रदान करनेसे नियमसे भोगभूमि तथा स्वर्गके सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री-विनेन्द्र भगवानने परमागममें कहा है ।

सुतविसस काले वचिय सुवीयं फलं जहा विउलं ।  
 होह तहा तं जाणइ पत्तविसेसु दाणफलं ॥ १७ ॥

अर्थ सुखेन धुमसल जो, वी वीज फलपूर ।

तेस पात्र विशेष फल, जान सुदान अंकर ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य उन्नत खेतमें अच्छे बीजको बोता है तो उसका फल मनवा-  
 शिष्ट पूर्णरूपसे प्राप्त होता है । इसी प्रकार उत्तम पात्रमें विधिपूर्वक दान देनेसे  
 सर्वोत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती है ॥१७॥

इह णियसुवित्तवीयं जो बवह जिणुत्त सत्तखेत्तेसु !  
सो तिहुवणरेज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥ १८ ॥

इह निज विच सुवीज जो, यो जिणुत्त सत्तखेत ।

सोत्रिसुवनको राजफल, जोनि तीर्यकर हेत ॥ १८ ॥

अर्थ--जो मन्व्यात्मा अपने ( नीतिपूर्वक संग्रह किये हुये धन ) द्रव्यको धी-  
मिनेन्द्र भगवानके कहे हुये सात क्षेत्रमें वितरण करता है यह पंचकरपाणकी मरा  
विभूतिसे सुखोमित्त त्रिधुवनके राग्यसुखको प्राप्त होता है ।

मादुपिटुत्तमित्तं कलत्तघणघणवत्थुवाहणविसयं ।  
संसारसारसौषखं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥ १९ ॥

मात पिता सुत मित्र स्त्रिय, धन पट वाहन मेव ।

विभवसार संसार सुख, नानो पात्रदत्त हेव ॥ १९ ॥

अर्थ--माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि कुटुंब परिवारका सुख और धन धान्य  
आदि माला माला माल माल तथा माल विभूति आदिका सुख एक एषान राजका

सप्तगणनायाह गङ्गासङ्गवलयउद्वहरपत्तं ।  
छणवदिसहसिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥

सप्तगण अंग निदिनय, कोस ग्रंण पटसेन ।

रत्न दुसत विपङ्गिनव, सहस जान पावदानेन ॥ २० ॥

अर्थ-सात प्रकार राजयके अंग, त्रयनिधि, चौदह रत्न, माल खजाना, गाय  
दायी पोदे सात प्रकारकी सेना, पटरांडका राज्य और छयानवे हजार रानी ये सर्व  
मुपाय दानका ही फल है ऐसा समझना चाहिये ।

सुकुल सुरुव सुलरखण सुमइ सुसिखखा सुसील सुगुणचारित्तं ।  
सुहलेसं सुहणायं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥ २१ ॥

मुकुळ रूप वक्षण मुवति, खिषा मुगुण सुशील ।

दुप वलिख सब अउ सुल, विभव पावदलसील ॥२१॥

अर्थ-उत्तम कुल, सुंदर स्वरूप, शुभलक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोषशिक्षा, उत्तम  
धील, उत्तम बरकठु गुण, अच्छा सम्पदधारिनि, उत्तम शुभलेश्या, शुभनाम और



संस्त प्रकारके भोगोपभोगकी सामग्री आदि सर्व सुखके साधन सुपात्रदानके कलस प्राप्त होते है।

जो मुनिभुक्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवहिंढं ।  
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरंसोक्खं ॥२२॥

जो मुनि भोजन शेष युक्त, भाष्यो जिनपर देख।

भोगि सार संसारसुख, धनुक्रम शिव सुख हेव ॥ २२ ॥

अर्थ—जो भग्यजीव मुनीश्वरोंको आहारदान देनेके पश्चात् अवशेष अन्नको प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह संसारके सारभूत उत्तम सुखोंको प्राप्त होता है और क्रमसे मोक्षसुखको प्राप्त होता है ऐसा श्रीविनेन्द्र भगवानने कहा है ॥

भावार्थ—जिस बालमें मुनिराजको आहारदान दिया है उस बालमें पचे हुए अन्नको मुनिराजका प्रसाद ( गुरु प्रसाद ) समझ कर सेवन करना चाहिये । 'दान-प्राप्त' आदि कियेने ही प्रभवेसे आत्माकेने पक्षी आकाश परंपालकी है कि जिन ॥

# कायकिलेसुव्यासं जाणिजे दिण्णग् दार्णं ॥ २३ ॥

पीठ उतंन मयरा विपुल, रलेम परिथम व्याधि ।

कायकिलेश उपवासउत, तिकठि दान व्याधि ॥ २३ ॥

अर्थ—श्रीसुनिरांजकी प्रकृति शीत है या उष्ण, वायु वातरूप है या प्लेभांरूप है या पित्तरूप है । सुनिराजने कायोरसगं ओर विविध प्रकार आमनोति कितना भ्रम किया है, गमनांगमनसे कितना परिश्रम हुआ है, सुनिराजके शरीरमें नर संप्रदानी आदि व्याधिकी पीडा तो नहीं है । कायकिलेश तप और उपवासके कारण सुनिराजके कण्ठ आदिमें दुग्धवा तो नहीं है इत्यादि समस्त बातोंका विचार कर उसके उपचार स्वरूप योग्य आहार औषधी द्रु प गर्मजल आदि देना चाहिये ।

माधार्प-सुनिराज की प्रकृतिकी विचारकर ओर द्रव्यसे शलके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर दान देना चाहिये । दाताके सातगुणोंमें सबसे सुलभ विवेकगुण माना है । विवेक और विचारके बिना मत्किमार यद्वा दान देनेसे विवेक दानि होने की सुमारना और पापकर्मकी प्रवृधि होसकती है । सुनिराज को गर्मी और दुग्धवां रूढ

रही हो ऐसे समर्थमें यदि विवेक और विचारके बिना विक्रय गर्म पदार्थ दान दिया जाय तो वह दान विशेष हानिप्रद ही होगा। इसी प्रकार आहारकी सामग्री तैयार करनेमें विशेष हिंसा और मलिनताका विचार अवश्य ही रखना चाहिये।

द्वियमियमणं पाणं निरवज्जोसहिणिराउलं ठाणं ।  
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देह मोक्खरवो ॥२४॥

द्वित मित मेपज पान भल, रएन निरकुल थान ।

सय्या थसल उपकरण, जो दे शिषमुख मान ॥ २४ ॥

अर्थ—द्वित मित प्रायुक्त शुद्ध अन्न पान, निर्दोष दित्तकारी औषधी, निराकुल स्थान, उपनोपकरण, आसनोपकरण, चासोपकरण आदि दानयोग्य वस्तुओंको सुभावकी आवश्यकतानुसार तन्म्यग्दृष्टी प्रदान करते हैं।

भावाय—गुणार्थकी प्रकृति और द्रव्य क्षेत्र कालके निमित्तसे होनेवाले मोक्षमार्गके मायनके विन्नोंको दूर करके शिथिलता एवं देवनिमित्तसे होनेवाले मोक्षमार्गके मायनके विन्नोंको दूर करनेके लिये, मोक्षमार्गको सतत प्रकट करनेके लिये, धर्मकी प्रमाणाके लिये, जिन-कालके लिये, मोक्षमार्गको सतत प्रकट करनेके लिये, धर्मकी प्रमाणाके लिये और वात्सल्यमायनके आसनकी स्थितिकाके लिये, अथवा गुणार्थके अस्मादकी पृथि और उरुकल आदि लिये हिन मित मोजन पान, मठ आदि निवाग स्थान औपधि और उरुकल आदि सम्पत्तीको प्रदान करना चाहिये । जो मध्य जीव द्रव्य क्षेत्र कालकी परिस्थितिको विचार कर उसके योग्य चार प्रकारका दान गुणार्थमें देना है वह मोक्षमार्गमें अग्र-गामी है ।

अणयाराणं वेजावचं कुञ्जा जहेह जाणिञ्च ।  
गन्धभवेव मादा पिदुवाणिञ्चं तद्वा गिरालसया ॥२५॥

अणयाराणं वेजावचं, क्वै जया जो निष्ठ ।  
मात पिता असे गत्य, पाठ निरासस चिच ॥ २५ ॥

अर्थ—जित प्रकार माता पिता अपने गर्भसे होनेवाले बालकका मरणपेपण लालनपालन और सेवागुह्या तनमनकी एकाग्रता और प्रेममायसे करते हैं, मर्द-

प्रकारसे बालकको सुरक्षित- रखते हैं, इसी प्रकार- सुपात्रकी, वैयापृत्य- सेवासुध्या-  
आहार पान शय्यस्या निवासस्थान आदिके द्वारा पात्रकी प्रकृति कायफलेन पाल-  
पेच आदि श्याधि और द्रव्यक्षेत्रकालके उपद्रवोंको विचार कर करानी चाहिये ।

वार्थ—यदि सुपात्र ( मुनिमार्ग ) सुरक्षित है तो धर्म सुरक्षित है । मुनिमार्गके  
पर धर्मका सर्व प्रकारसे लोप हो जाता है । गृहस्थधर्मकी स्थिरता भी  
पर ही अवलंबित है । जिनघातनका प्रकाश मुनिमार्गसे ही है इसलिये  
कार हो सके सर्व प्रकारके मयत्नोंसे मुनिमार्ग स्थिर करना चाहिये, मुनिमार्ग  
रक्षाना चाहिये, सर्वप्रकारकी आपदाओंसे सुरक्षित और निराकुल बनाना चाहिये ।

मुनिधर्मको सर्व प्रकारसे निराकुल करना ही वैयापृत्य है । मुनिधर्मका प्रमाप  
पकट करना सेवासुध्या करना आहारदान देना औपपदान देना वसतिका दान  
देना तो सर्व वैयापृत्य है \* ।

---

\* शाश्वत वेद ब्रह्मना, मल गृह गृह के ब्रह्मना, जार ब्रह्मना आदिको गृह काला मादि यह सर्व वैया-  
पृत्य है तथा मुनिराजके स्थानको साफ काला, भीमारीसे दृढत्व करना, लोभके विधि मां गानो  
देना, आहार औषधी पीछी कर्मब्रह्मना आदि उपकरण देना, राजप्राय कोकाल मित्यकर्मब्रह्मना-

## लोहीणं दानं जह विमाणसोदासत्रं जाणे ॥२६॥

सप्तपुत्रानके दानसि, मुक्कठ मुक्कल मुञ्जे म ।

लोनी बनिसे दान ज्यो, सवविमान सम सोम ॥२६॥

अर्थ—धर्मोत्तम, मग्गयट्ठीका दान कल्लरइयके कल्लके समान महान ओमाको प्राप्त होना है और लोमी पुलाका दान मृत्रक पुरुषके विमान ( डाढरी ) के समान है ।  
 माशार्थ— धर्मोत्तम मग्गयट्ठी पुरुषोंका मुपात्रमे दान, श्रद्धा, भक्ति और मारपूर्वक होना है इसलिये वह दान पंचाधर्य विभूतिके माप स्वर्गमोक्षके महान फलको प्राप्त करगा है परन्तु लोमी पुरुषका दान मान बढाईकी इच्छासे दिया जाता है इसलिये वह सुदोकी टटरीके समान है ।

जर्मकित्तिपुण्यल्लहे देहं भुवहुगंणि जत्थ तत्थेव ।

मग्गाइ गुगुणभायण पत्तविमंसं ण जाणंति ॥२७॥

१-जन्मने प्राप्त बड़ने जोर क' तिहे विदे निट्ठयट्ठी पुदोकों निट्ठायमसो पृ'दके निरो दान  
 हैण हे'से संसारका ही कारण है । कल्लेको दे'पदंका श्रद्धाकी उंको प्राप्तयेवासा धीमन् जन्मो

जस कीरति सुभलाभको, जहं तहं बहुत सुदेहि ।

भाजन सुगुण सुपात्रको, नहि विशेष जानेहि ॥२७॥

अर्थ—लोभी अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति—यश मान पढाई और पुण्यलाभकी रक्षा से कृपात्र अपात्र आदि अयोग्य मिथ्या अनायतनोंमें बहुत दान देते हैं परन्तु उनको मम्पक्त्वरत्नसे पुशोभित अनेक गुणोंकी खानि देनेसे सुपात्रकी पहिचानही नहीं है ।

कवाति लाभ मान प्रतिष्ठा और लुलामरके गौरवमें पढ़कर मिट्याशयको वृद्धि के लिये मिट्यामार्गमें दान प्रदान करना सो भी संसारका ही कारण है । जैनयाना प्रतिष्ठा संघ रथोरसय जिननिर्माज मर्दिके लिये प्रदान किया हुआ दान, मान बढ़ाईके कारण विधवाश्रम स्कुल और पोर्डिंग आदिमें लगा देना सो संसारका ही कारण है । जिन जिन कारणोंसे जैनधर्मका हास, देव शाल्य गुठका भयर्जर्षादि और खात्रिकका लोप होता हो चेतसे कारणोंमें दान देना संसारका ही कारण है । कुशिक्षा, दिला, और पापके कार्योंमें दान देना सो भवोग्य है ।

(सो प्रकार मान बढ़ाईके लोभमें पात्र भवानकी परीक्षाका विस्कार किये धिना पदा तथा भवान कुपात्रमें दान देकर पुण्य होना और लक्षणकी तिरा करना आदि सब मिट्यात्वकारिके

जंतं यंतं तंतं परिचरियं पक्खवागपियवयणं ।  
 णट्ठच्च पंचपकाले भरेहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥२८॥

त्रय मंत्र तंत्र हि प्रवृत्ति, पञ्चगत त्रियवैन ।

पहूँ काल पंचम भरत, दान मोक्ष कछु ऐल ॥२८॥

अर्थ—यंत्र मंत्र और तंत्रकी सिद्धि और जनतामें अपनी प्रवृत्ति, पञ्चपातकी सिद्धि और तुत्रापदका लक्ष्य रत्नकर इस मातत्रेय पंचमकालमें जो दान दिया जाता है वह दान मोक्षका माषक ( मोक्षफलका देनेवाला ) नहीं होता है ।

दाणीणं दालिइं लोहीणं किं हवेह महाहसरियं ।

उहयाणं पुव्वजियकम्मफलं जाव होह धिर ॥२९॥

१-यत्र मन्त्र और तुत्रापदकी सिद्धिमें दान उच्छन्न फलका देनेवाला नहीं है । पञ्चगानसे यत्र महा पात्र भगवतमें दिया हुआ दाण कल्पन फलको प्राप्त नहीं करता है । तुत्रामन्त्रसे सिद्धवा हुयी भगवत् भगवत्पत्तये उद्देश्य किया हुआ दान संसारक बहुता है । इसी प्रकार केवल मान्य सिद्धाते गौरवके लिये सिद्धवाहुयी भगवत् और सिद्धवा भगवत्पत्तये दान देना स्वत्कारका कारण है ।



दानीके दालिप किम, लोभी मह ईसत्य ।

दुहन पूर्वकृत कर्मफल, होत विपारु महत्त्व ॥२९॥

अर्थ--दानी पुरुषोंको दरिद्रता और लोभी पुरुषोंको महान विभवकी प्राप्ति होना अपने अपने पूर्वजनितकर्मोंका फल है । इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि ज्वत्क पूर्वकर्मोंके फलका उदय है तवत्क अपनी अवस्थापर हर्ष या ग्लानि नहीं करे और न यह विचार करे कि मैं धर्मसेवन करते दूये भी दरिद्र क्यों होगया और पापी पुरुष धनवान क्यों होगये ?

भावार्थ--धर्म का सेवन सदैव सुखका प्रदान करनेवाला है । दानका फल सदैव सुखकर है परन्तु पूर्वजनित पापकर्मोंका फल जो इस समयमें उदयरूप होरहा है उसके निमित्तसे दरिद्रता आदि सर्व दुखकर सामग्री प्राप्त होजाय तो उसके भोगनेमें शोक और विषाद क्यों करना चाहिये ? परन्तु भावपूर्वक धर्मका सेवन विशेषरूपसे करना चाहिये जिससे पाप कर्मोंका उदय पुण्यरूप होकर परिणमन करे ।

घणघण्णाइ समिद्धं सुहं जहा द्रोह मन्वजीवाणं ।

मुणिद्राणाइ समिद्धं सुहं तथा त विणा दुप्पख ॥३०॥



पुनः पुनः इति सुख, ज्यो सुख जीवन हो।

श्री सुविद्वान्तिने सुख, सुख निधि दुःख विन लेद ॥३०॥

अर्थ--द्विष प्रकार पन नान्य आदि भोगीयमोग सामग्री और विभूतिभे सुखकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार ममत्त्व प्रकारके परिग्रह और आरंभ रहित वीतराग स्वभावके दानके करनेसे ममत्त्व प्रकारके सर्वोच्छेद सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते है।

पन विणा दाजं च सुपुत्र विणा बहुधनं महासिद्धं ।  
चित्त विजा त्रयगुणवारिचं निकारणं जाणे ॥ ३१ ॥

पन विना दान सुपुत्र विन, बहुधन अन्व लेन ।

चित्त विजा त्रयगुण वारिचं, चित्त विकारण ल ॥३१॥

अर्थ--द्विष प्रकार पुत्रुके विना पान विभूति मरन और अरार पन व्यर्थ है। मायिके विना अन्न दान और चरित्रिका पानन करना व्यर्थ है, इसी प्रकार सुखात्रके विना दान देना व्यर्थ है।

पुत्रादर्थं पन्य भी दान रहके अन्न वीत्रके समान पानन करनेसे पानन करना ही, मायापन अतितापपन प्रकृतियों इन्द्र प्राणदेही अन्न विभूतिही पानन



कारण है और क्रमसे मोक्षसुखको भी देता है। परन्तु अपात्रमें मदान किया हुआ दान संसारका भग्नेवाला और शेर दुःखका देनेवाला होता है ॥

जिर्णुद्धारपत्तिहा जिणपूजातिर्यंबंदण विसेय ।

घर्णं जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिहं णरयगयदुक्खं ॥३०॥

(१) धो भगवान् कुंश्कुंद स्वामने यहाँपर निमित्तसंवनका पात्र नदी बतलाया है चित्त एक मनुष्यने श्रीजिनेन्द्रभगवानकी निरूपणमा पात्रबचनप्रनियान्तर सतत कापय रहनेके लिये पात्र हजार रुपये धर्मार्थ दान किये और उसको श्राद्धमें भगवानको निरूप पूजा होगी रहे येसो माधना को और रसोलिये दान किया, परन्तु कालांतरमें उस श्राद्धको हजम कराना और भविष्यमें होनेवाली पूजाका विध्वंस करना सो त्वप्रकार पूजा प्रविश्या गोयेशयः य धामक साधतर्नोका मध्य खाजाना और भविष्य में होनेवाले धार्मिक कार्योंको विध्वंस करदेता सो यह सर्वे नारकगतिका कारण है । पूजामें माष्ट मध्य घड़ने के वाश् जो निर्मादिय द्रव्य होता है उसका फल ही पूजक मध्य मुख्यने भगवान को पूजा करते ही प्राप्त करलिया । बसोयकार प्रतिष्ठा भादि के लिये रवेदुप मुख्यका फल भविष्यमें प्रतिष्ठा करते समय प्राप्तहोगा यह प्रतिष्ठा के लिये रवेदुप

जिन उद्धार प्रतिष्ठा पूजा अिनकी करे । बंदन तीर्थ विशेष जास धनकों धरे ॥

भूँसै भोग अज्ञान काज धर्म नहि धरे । कहिउ जिनेश तो पुह्य नरकके दुख भरे ॥

अर्थ—श्रीजिनमन्दिरका जीर्णोद्धार, अिनविम्ब प्रतिष्ठा, मदिर मतिष्ठा, जिनैन्द्र मगवानकी पूजा, जिनयात्रा, तीर्थयात्रा, रथोरसव भोर जिनशासनके आयतनोंकी रक्षाके लिये प्रदान किये हुए दानको जो मनुष्य लोभ मोहबध प्रदण करे, उससे मविष्यमें होनेवाले धर्मकार्यका विघ्नमकर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महा पापी है ऐसा श्रीजिनराजने कहा है ।

पुतकलित्तविदूरो दारिद्रो पंगु मूकवहिरंधो ।

चंडालाहकुजादो पूजादाणाहद्वहरो ॥ ३३ ॥

पुत्र कलित्त विना दल्लिद, पंगुमूकवहिरंध ।

चांडालारि कुजाति इह, महदतपनहर मुंध ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठा तीर्थयात्रा आदिके लिये संरक्षित द्रव्यका अपहरण करता है वह पुत्र स्त्री आदि कुटुंब परिवारसे रहित होता है । दल्लिद पंगु मूक बहिरा अंधा होता है और चांडालादिक कुजातिमें उत्पन्न होता है ।

इत्थीयफलं ण लब्भय जइ लब्भइ सो ण भुंजदे णियदं ।  
 वाहीणमायसेसो पूजादाणाइदब्बहरो ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजाके निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्यका अपहरण करता है वह पच्छिन्न फलको कदापि प्राप्त नहीं होता । उसके पुण्यका उदय कभी नहीं होता है । कदाचित्त एवस्तुका संयोग प्राप्त हो जाय तो भी वह उसका फल भोग नहीं सकता ।

गयहत्यपायणासिय कणउरंगलविहीणदिट्ठीए ।  
 जो तिब्बदुब्बसमूलो पूजादाणाइ दब्बहरो ॥ ३५ ॥

एत एर पद नासा कण्ठ, जो अंगुलि दिट्ठि हीन ।

तीज्जिदुब्बको मूल इर, पूजदान धनहीन ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो मनुष्य पूजा प्रतिष्ठादिके निमित्त प्रदान किये हुए द्रव्यका अपहरण करता है पर हाय पद (पैर) नामिका कर्ण अंगुलि आदि रहित हीनो ग होता है । जीवोति अन्था होता है और तीज्जिदुब्बको प्राप्त होता है ।

स्यकृढमूलसूला लूयभयंदरजलोदरालिसिरो ।  
सीदुण्डवाहिगइ पूजादाणांतरायकम्मफल ॥ ३६ ॥

दृढसिद्ध धुय मूल लून बलोशमांइ कन ।

कान निचकमनल पूमदान अन्तरायफल ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य होम मोरके वय होकर श्रीविनेन्द्रमगवानकी पूजाके निमित्त दान किये हूँ द्रव्यका अपराल कर पूजादि धार्मिक कार्योंमें अंतराय करता है, विघ्न करता है, पुण्योत्सादक कारका विध्वंस करता है वर धुय कोइ शूल लूना बजोर मयंदर मनइष्टि वाय गिन कक और मन्निपाव आदि रोगोंकी तीव्रवेदनाको दान होता है ।

मासार्थ—अिनत्रामन और यर्मायननोंको उद्योग करने वाले पूजा मनिष्ठा रथ-वाया नीरंथायादि धार्मिक कार्योंके लिये वदान किये हूँ द्रव्यको वर धार्मिक कार्य होनेके समयवही अपराल कर धार्मिक कार्यमें अंतराय करना अपवा धार्मिक कार्योंकी व्यवस्थामें विघ्न करना, धार्मिक कार्योंमें दान देने वाले मायोंको रोक्कना, सुचारु रूपमें कार्य करने वाले धार्मिक कार्योंमें रोगा अटकाना, पन्डिरके छव पसर आदि

विभूतिका लोप करना मन्दिरकी द्रव्यसे आजीविका कर मन्दिरके कार्यकी पंद करना आदि अनेक प्रकार पूजा और दानके कार्योंमें अंतराय करनेसे दुःख प्राप्त होता है ।

परइतिरियाहदुरइदरिद्विवियलंगह्याणिदुक्खाणि ।

देवगुरुसत्थवन्दणसुयभेयसज्झादानविघणफलं ॥३७॥

अर्थ-जो मनुष्य देव-गुरु श्राद्धके उद्धार, पंदना और पूजा प्रतिष्ठा आदिके निमित्त होनेवाले दानमें अथवा प्रदान किये हुए दानमें, श्रुतकी श्रुति पाठशाला विद्यालय और स्वाध्याय आदिके लिये दानमें विघ्न करता है उसको नरक तिर्य्यप आदि दुर्गतिके दुःख और मनुष्यगतिमें दरिद्रता विकलांग तथा विविध प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं ।

सम्मविसोही तवगुणचारित्तसण्णाणदानपरिधीणं ।

भरहे दुस्समकाले मणुयाणं जायदे णियदं ॥ ३८ ॥

समकालसुध तपचरित्त, सतज्ञानदान परधान ।

भारतप्राठ पंचममनुष, निदधे तपज महान् ॥३८॥

अर्थ—३८ दुराह दुःखम ( कलिकाल ) पंचमकालमें. मनुष्योके निपापपूर्वक





ण विजाणह कलमकजं सेयमसेयं च पुण्णपावं हि ।  
तच्चसत्तच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्भुको ॥ ४० ॥

काज अकात्र न जानही श्रेय अश्रेय पुन्य पाप ।

सत्त्व अत्तत्त्व अधर्म धर्म सो समकित विन व्याप ॥४०॥

अर्थ—जो मनुष्य सम्मग्नानके साथ अपना कार्य अरुण्ये, अपना हित अहित, तत्त्व अतत्त्व, धर्म अधर्म और पुण्य पापको नहीं जानता है वह सम्मग्नानसे रहित भिध्याहृष्टी है ।

ण विजाणह जोगमजोगं णिच्चमणिच्चं हेयमुवदेयं ।  
सच्चमसच्चं भव्वमभव्वं सो सम्मउम्भुको ॥ ४१ ॥

जोग अजोगरु नित अनित, सत्य असत्य न जानि ।

हेय अहेय न भवि अभावि सो समकित विन माणि ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य योग्य अयोग्य, निरय अनिरय, हेय उवादेय, सत्य असत्य असाह और मोक्षको नहीं जानता है वह सम्मग्नानसे रहित है ॥४१॥

लोहय जणसंगादो होइ महमुहरकुडिलदुःभाधो ।  
लोहय संगं तहमा जोइ वित्तिविहेण मुंचाहो ॥ ४२ ॥

लौकिक जन संघाल मर, मुहुर कुटिल दुःभाव ।

होए संग ताले तयो, मन बच तनकर जाय ॥ ४२

अर्थ—लौकिक मनुष्योंकी संगतिये मनुष्य अधिक बोलनेगले ( वाचाल )  
एकद कुटिल परिणाम और दृष्ट मायोंसे अत्यंत क्रूर हो जाते हैं इगलिये  
लौकिक मनुष्योंकी संगतिको मन बचन कायमे छोड़ देना चाहिये ।

मायार्थ—धर्माचरण विहीन—नास्तिक मनुष्योंकी संगति और उनकी कुगिशा-  
से मनुष्य वाचाल हो जाते हैं । हमसे वे पापकर्म-हिंसा झुठ चोरी और व्यभिचार  
आदि अनीतिके कार्य करनेमें जरा भी नहीं हिचकते हैं बल्कि उस कुगिथाके प्रभव  
से पापकर्म करते हुए अपनी सफाई मूर्ख बढ़ाईके साथ पुकार पुकार कर गाते हैं ।  
अपनेको जैन बनलाने हुए भी लौकिक जनकी संगतिये जैनधर्मके विकृद् आचरण  
काले हैं । दृष्ट मायोंको रग कर अर्थमकी वृद्धि कर मिथ्यात्वको बढ़ाते हैं इगलिये  
लौकिक जनकी संगतिका परिप्राग करना चाहिये ।

उग्नो तिव्वो दुद्धो दुग्ग्भावो दुग्ग्सादो दुरालावो ।  
दुग्ग्दरदो विरुद्धो सो जीवो सम्मउमुक्को ॥ ४३ ॥

उग्न तीव्र दुर्भाव दुग्ग्दुग्ग्धुत दुर आलाप ।

दुग्ग्दर रत अविरुद्ध जिम सो विन समकित थाप ॥ ४३ ॥

अर्थ—उग्न प्रकृतिवाले, तीव्र क्रोधादि प्रकृतिवाले, दुग्ग् स्वभाववाले, दुर्भाववाले, मिथ्या श्राद्धोंके श्रवण करनेवाले, दुग्ग् वचनके कहनेवाले, मिथ्यानिमानकी धारण करनेवाले, आरम्भसे विपरीत चलनेवाले और अतिशय दूर प्रकृतिवाले मनुष्य सम्यक्त्व रहित होते हैं ।

खुद्धो रुद्धो अणिट्टपिसुणो सग्गत्थि असुइउ ।

गायणजायणभंडनदुग्ग्सणसीलो दुग्ग् सम्मउमुक्को ॥ ४४ ॥

खुद्ध रुद्ध रोधी पिसुण गग्गी निघ अणिट्ट ।

गायण जाचक दोषकय भंडन समकित नए ॥ ४४ ॥

अर्थ—खुद्ध प्रकृतिवाले, रुद्धपरिणामी, क्रोधी, जुगल्लोर, फामी, गग्गिष्ठ, अस-  
दुग्ग्नील, दुग्गी, गायक, याचक, लडाईं झगड़े करनेवाले, दुग्ग्सीके दोषोंको मक्कट करने  
वाले, निघ पापाचारी और रोधी मनुष्य मध्यमव्यक्ति होते हैं ।

वाणरगद्दहसाणगयवग्घवररद्दकराद्द ।  
 पक्सिजल्लुपसद्दाव णर जिणवरधम्मणिणामु ॥४५॥

वानर गर्दम अह मद्दिय गत्र कच वग्घाद्द करद्द ।

पणि जल्लुक्खमल्लर जिणवर धम्म न लल्ल ॥ ४५ ॥

अर्थ—पेंदरके स्वभावबाले, गद्दहके समावबाले, मंगमा हानी वाय अरु र कथप पथी जल्लुकादि स्वभावबाले मनुष्योंके धीजिनेन्द्रियका धर्म धारण नहीं होता है ।

कुत्तेवकुलिंगकुणाणी कुवपकुभीलकुदंमणकुमरथो ।

कुणिमित्ते संशुप शुद्ध वसंसणं सम्मद्दाणि छोट्ट णियम्मं ॥ ४६ ॥

अर्थ—मिथ्यावचनचरण करनेबाले, कृत्स्न भेषकी धारण करनेवाले, मिथ्याज्ञानकी आराधना करनेबाले, कृत्स्न प्रताचरणोंको पालन करनेबाले, कुन्नीलसेवन करनेबाले, मिथ्यादर्शनके भावबाले, मिथ्याज्ञास्वोंका पठन पाठन और स्वाध्याय करनेबाले, कृत्स्न आचरण करनेबाले, मिथ्याधर्म, मिथ्यादेव और कृत्तुककी नद्यमा करनेबाले मनुष्य सम्पक्वराशिव होते हैं । उनके नियमपूर्ण सम्पद्दर्शन नहीं होता है ।

सम्मविणा सण्णाणं सच्चरिच्चं ण होइ णियमेण ।

तो रयणत्तयमज्झे सम्मगुणक्किट्ठमिदि जिणुदिट्ठं ॥४७॥

समकित्तं विन सतज्ञान सत्तचारित्तं नियत्तं न ज्ञेयं ।

रत्तत्रयं सम्यक्गुणं जिनकहि उत्तमं होय ॥४७॥

अर्थ---सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य नियमपूर्वक नहीं होते हैं । जिसके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यरूप रत्तत्रय है उसके ही सम्यक्त्व गुण प्रशंसनीय हैं ऐसा श्रीजिनेन्द्र भगवानने कहा है ।

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमण्णो वि तहा ।  
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छसेव हो कट्ठं ॥ ४८ ॥

तत्तणुकुट्ठी कुलभंगं ज्यो करे जया ज्यो जानि ।

ज्यो दानादिकं सुगुणं वडु करे मिच्छाती हानि ॥ ४८ ॥

अर्थ---जिस प्रकार फोदी रोगपाला मधुल्य फलके फारण अपने फलको नष्ट करता है वैसे ही प्रकार मिच्छाच्छी जीव हानि करे जयाजिव तोर अर्थात्पणनीका विच्छेद

मिथ्यात्वसे समस्त आत्मीयगुण नष्ट हो जाते हैं और सब्न्धे देव शास्त्र गुरु तथा धर्माचरणोंसे विपरीत भाव हो जाते हैं। इसलिये मिथ्यात्वका सेवन करना संसार-के दुर्लोकोंका ही काम्य है।

देवगुरुधम्मगुणचरित्तं तवायारमोक्खगइभेयं ।  
जिणवयणसुदिट्ठिविणा दीसइ किह जाणए सम्मं ॥४९॥

देव धरम गुरु गुण चरित्तं शुभ तप शिव गति मेव ।

जिनथर वचन सुदिट्ठि विन अंधक सम्पक वेव ॥४९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके विना देव गुरु धर्म धर्मादिक गुण, चारित्र्य तप मोक्ष मार्ग-तथा धी जिनेन्द्र मगवानके वचन ( जिनवाणी ) को नहीं मानते हैं।

भावार्थ—जिनके सम्यग्दर्शन नहीं है उनके देव शास्त्र गुरुका श्रद्धान भी नहीं है। तथा व्रत तप चारित्र्य और मोक्ष मार्गभी नहीं होता है।

एककु खणं ण विचिंत्तेइ मोक्खणिमित्तं णियप्पसाहावं ।  
अणिसं विचिचपावं बहुलालावं मणे विचिंत्तेइ ॥ ५० ॥

खिन न चित्तय शिव निमित्त निज आत्मसदभाव ।

अइ निरा चिन्तय पाप बहु मन चिन्तर आलाव ॥५०॥

अर्थ— मिथ्यादृष्टी जीव एक क्षणमात्रभी मोक्षकी सिद्धिके लिये अपने आत्म-  
स्वरूपका चिन्तन नहीं करता है, परंतु रात्रि दिवस पापके कार्योंका चारवार  
विचार करता है तथा परबस्तुकी निरंतर अभिलाषा करता है।

मिच्छामइमयमोहासवमत्तो बोलए जह भुछो ।

तेण ण जाणइ अप्पा अप्पाणं सम्भभावाणं ॥ ५१ ॥

मिथ्या मति मदमोहतै भुल्ल वक्त जिम मत्त ।

तैसे जानत नाहि निज अरु समभावहि तत्त ॥ ५१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्याबुद्धिके अभिमानसे मदेन्मत्त होकर मदिरा पान-  
करने वाले सुललभ मनुष्यके समान यद्वा तद्वा मिथ्या प्रलाप करते हैं। परंतु वे मोह-  
के उदयसे अपनी आत्माको नहीं जानके के लिये आत्माके

मिहरो महंघमारं मरुद्रो मेहं महाघणं दाहो ।  
वज्जो गिरिं जहाविय सिञ्जइ सम्भे जहाकम्मं ॥५२॥

महाअध्वरो रवि मरुत मेघ महावन दाह ।

पर्वत वज्र विनाशए समकित धर्म अषाह ॥५२॥

अर्थ-त्रिसप्तप्रकार सूर्य अंधकारको तत्काल नष्ट कर देता है । वायु मेघका नाश करती है । दावानल वनको जला देता है । मज्ज पर्वतोंको भेदन ( चूर्ण ) करदेता है उसी प्रकार एक गम्भस्त्व ममस्त कर्मोंको नाश कर देता है ।

मिच्छंधयाररहियं धियमञ्जं मिव गम्परयणदीव कलावं ।  
जो पज्जलइ स दीसइ सम्भं लोयत्तयं जिणुदिहं ॥५३॥

पत्ति अंधारे गेह मधि दीपकला परमास ।

समकित का प्रकळे दिसे तीन लोक जिन भास ॥५३॥

अर्थ- जो धर्मात्मा अपने हृदय-मदिरमें मम्पकत्तलरूपी दीपक प्रज्वलित करता है उसको प्रिलोकके ममस्त पंदावे स्वयमेव मतिमा सिव रोते हैं ।



कामदुर्हिकपतरुं चितारयणं रसायणं य समं ।  
लद्धो भुंजह सोक्खं जहच्छियं जाणं तह सम्मं ॥ ५४ ॥

कामदुर्हा तरुकरु रससार रसायणं चित्त ।

मणि लाभे सुख मुजए इच्छित्त त्तिमि सम दित्त ॥

अर्थ—जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कापधंसु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायणको प्राप्त कर मनवांछित उत्तमसुखको प्राप्त होगा हे उगीप्रकार मग्यार्थीन-से भोग्य जीवोंको सर्वप्रकारके सर्वोत्कृष्ट सुगु और ममसा प्रकारके योग्योपमोग स्वयमेव प्राप्त होजाते हैं ॥

कतकफलभरियणिम्मल चवगय कालिया सुवणञ्च ।

ःम जुत्तो भव्ववरो लहह लहु सोयस्सं ॥ ५५ ॥

कतकफलभरियणिम्मल चवगय कालिया सुवणञ्च ।  
ःम जुत्तो भव्ववरो लहह लहु सोयस्सं ॥ ५५ ॥

कतकफलभरियणिम्मल चवगय कालिया सुवणञ्च ।

पुत्रवृत्तियं स्वयद्द कर्मं पद्मसुदु णो देह अहिणवं कर्मं ।  
इहपरलोगमदृष्टं देह तद्वा उवममो भावो ॥ ५६ ॥

पुरुष पितृं छेपे काम नव नहि देत प्रवेदा ।

देय म्दानम लोक दूय उपसम मात्र नरेरा ॥ ५६ ॥

अर्थ-मरण लीवोको उपग्रम भाव पूर्ववद् कर्मोकी निर्जरा करता है । ( पूर्ववद् कर्मोकी स्थितिका धय करता है ) और नवीन कर्म बंध होने नहीं देता है ( नवीन कर्मोका आस्य नहीं होता है ) एगलिये उपग्रमभाव दोनो लोकमें अर्पुर्ल महात्म्य प्राप्त करता है ।

सग्माह्ठी कालं बोलह वैरग्गणभविण ।

मिच्छाह्ठी वांछा दुःभावात्स्मकलहैहि ॥ ५७ ॥

अर्थ-मग्गमह्ठी पुरुष समयको वैराग्य और ध्यानसे व्यतीत करते हैं । परंतु मिथ्याह्ठी पुरुष दुर्भाग्य आत्म्य और कल्हसे अपना समय व्यतीत करते हैं ।

अज्जविमपिणि भरहे पउरा रुद्धुभाणया दिद्दा ।

णद्दा दुद्दा कद्दा पायिद्दा किण्णणीलकाऊरा ॥ ५८ ॥

श्राज भारत अयसय सरपिणी प्रंयुरात अनिरुद्र ।

नट दुर पापिट कठ प्रयलेरपा जुत ह्रुद ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसरपिणी पंचमकालमें दुर्ब्यानी रुद्रपरिणामी कृष्णादि अशुभ लेशपाके धारक दूर स्वभाव वाले नट दुर पापिट और कठोर मावोंको धारण करनेवाले अधिक मनुष्य उरपन्न होते हैं ॥

अजजविसपिणि भरहे दुस्ससया मिच्छपुव्वया सुलया ।  
समत्तपुव्वसायारणयारा दुल्लहा होंि ॥ ५९ ॥

अवसरपिणि दुःखम मात सुलभ पूर्वमिध्यात ।

समकित पूरप जति गृही दुर्लभ भयं विदधात ॥ ५९ ॥

अर्थ—इस भरतक्षेत्र अवसरपिणी पंचमकालमें मिध्यात्वी मनुष्य अधिक है । परंतु सम्पाद्वेदी सुनीश्वर और गृहस्थ दुर्लभ हैं ।

माथार्थ—अनर्पमको धारण करनेवाले धर्मात्मा सम्पाद्वेदी गृहस्थ और सुनीश्वर उरपन्न दुर्लभ हैं । मिध्यामतको धारण करनेवाले मिध्यात्वी अधिक हैं—सुलभता

अज्ञानभाव्याण भरह धम्मउज्झाण पमादराहयापिदि ।

त्रिणुद्रिदं णहु मुण्ह मिच्छादिदो हई सोहु ॥ ६० ॥

कच्छू अउरुग्गि मय त्रिण प्रसद धमिपरन ।

हेन नर निमि त्रिण रणो जो बुदिदि नहि सन ॥ ६० ॥

अर्थ— एम परतश्रेत्र अरनविणी पंचमकानमें श्रीसुनीशरोंके प्रमाद रहित धर्म-  
ररान होया है जेया श्री त्रिनेन्द्रने कहा है । जो इसको नहीं मानता है वह  
निय्यायी है ।

पारायें— अद्रमाद अरथा मानवें गुणस्थानमें होती है । मत्तेशेव पचमकालमें  
षाठवें गुणस्थानकी सुनीशरोंके प्रमाद रहित धर्मस्थान नियम पूरुंक होता है, ऐसा  
श्री त्रिनेन्द्र मपरानने परमागममें कहा है । जो इन्ही इम पचमकानमें मानवें गुण-  
स्थानकी सुनिधर्म ' सुनीशरोंका अग्निन्व ' तथा प्रमाद रहित धर्मस्थानको नहीं  
मानता है पर मिच्छादी है, उन्धधर्मोंके बहिर्जन है ।

अमुच्छादो गिरादो मुहभावादो दु नगगमुहमाओ ।

दुहमुहभावं नापठ जंते रुन्चे दणं कुणहो ॥ ६१ ॥

अनुभवावर्ति नरकगति शुभे सुख सुख आव ।

दुखसुख भावद जागि तुव रचै सु करि अनुराव ॥६१॥

अर्थ--अनुभवावसे नरकादि दुर्गति होती है । शुभ भावोंसे स्वर्गके अनुभवा सुख प्राप्त होते हैं । दुःख और सुखकी प्राप्ति अपने शुभानुभवा भावों पर ही निर्भर है । हे भक्त्य आत्मन् ! जो तुझको अच्छा मान्दम होगा हो वह कर ।

भावार्थ--अनुभवा भाव करेगा तो दुःख होगा । शुभ भाव करेगा तो सुख होगा । इसलिये अनुभवा भावोंका त्याग कर ।

द्विसाहसु कोहाहसु मिच्छाणेषु पु पयस्रवाएसु ।

मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणवेसेसु असुहलेसेसु ॥६२॥

विकहाहसु रुदृच्छाणेषु असुयेगसु दंडेसु ।

सहेसु गारवेसु चाएसु जो वहइए असुहभावो ॥ ६३ ॥

द्विसाहसु कोहाहसु अह पुया हान पयस्रवा ।

मच्छरिएसु मएसु दुरिहिणवेसेसु असुहलेसेसु ॥६२॥



अस्तिकाय पण दध्य पटू तत्व सात नव भाव ।

बंध मोक्ष कारण सरुव द्वादश भावन ध्याव ॥६४॥

रत्नत्रयहि रवह्य अरु आरिज दयादि धर्म ।

एणे मारग वर्तई सो शुभ भाव सुसर्ग ॥६५॥

अर्थ—पंच अस्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थ, बंधमोक्ष, दयाक्रोध, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्जवभाव क्षमाभाव और सामायिकादि चारित्रमय जिन मध्य जीवोंके भाव हैं, वे शुभ भाव हैं ।

सम्मत्तगुणाइ सुरगइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।

इदि जाण किमिह बहुणा जंते रुचेइ तं कुणहो ॥ ६६ ॥

समकित गुणतें शुभसुगति दुर्गति देव मिष्यात ।

यह जानि भव्य जो रुचे करुहु नियम अवदात ॥ ६६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जीवोंको नियमसे शुभगति होती है और मिथ्यात्वसे नियम पूर्वक दुर्गति होती है समलिये हे मध्य ! तुझको जो अच्छा लगे यह कर, अविरुध बना बदे ।





ही रात, एक सपने के बिना जिनलिंग भी संसारका नाश नहीं कर सकता है ।

मोक्षमणिमत्तं दुःखं वेदं परलोयदिद्वितणुदिद्वी ।

मिच्छाभाष ण च्छिज्जइ किं पावइ मोक्षसोत्रं हि ॥ १९ ॥

मोक्ष निरिष दुःख वेदं सग दण्डी दिद्वि परलोक ।

मिच्छाभाष न क्षीज्ज किम पावइ शिव योक ॥ १९ ॥

अर्थ - मिच्छाएष्टी यहिरात्मा जीवने मोक्षकी प्राप्ति के लिये बार बार अनेक प्रयत्न किये और प्रतत्पथरण के द्वारा नारीरिक अनेक कष्ट भी सहन किये परंतु मिच्छा माबोझा परित्याग नहीं किया इसलिये यह अज्ञानी आत्मा मोक्ष के मुख को किस प्रकार प्राप्त कर सका है ?

ण हु दंडइ कीदाइ देहं देहेइ कहं खचइ कम्मं ।

सणो किं मुवइ तदा त्रम्मिउ मारिउ लोए ॥ ७० ॥

अर्थ - दंड देह मोक्षदि एत देह जिये किय कम्म ।

हमना है और तब प्रारम्भिक आदिके अंग जरीको टेंड [ कष्ट ] देता है हमने  
 के कर्म बट ही जायने क्या ! करानि नही । क्योंकि सर्पके बिलको मारनेसे सर्प  
 नही मरता है ।

असम भवभावबुद्धो जागी सो भावसंबुद्धो होई ।  
 जागी कमायबमगो अमंजदो होइ सो ताव ॥ ७१ ॥

असम तव अमंज बुद्धन तवम मज्जन इन ।

इसी अके बरव वर तव अमंजम यत्न ॥ ७१ ॥

अर्थ—असम मारने तब तवमान चरिण अदिष ग्ग सिद्धे जांग तो वे  
 मयापु संगममरकी जान है । परन्तु अमंजके अग तव तवममल पाला कियो जांग  
 तो भी वे अमंजमयाके ही तव सोते है ।

भावार्थ— मारनेके अमंजमयाके अमंज तवदिक होने हे तवक  
 उनके मरव मार हीया है कि अमंज मारनेसा जाला मरवनी पुण्य अरने सुनके  
 अमिमानये करानेके अमंजदिके अमंज मया है परंतु मारनेके अमंज परिलाम  
 हीनेके अमंजम मार ही मरने है ।

पाणी स्ववेद कर्मं पाणवलेनेदि सुवोल्ए अण्णाणी ।  
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

सार

इली खेपेपे ज्ञानवत् कर्म न मन कथान ।

ईमे भेषज ज्ञान एइ व्याधि नारा इति मान ॥ ७२ ॥

अर्थ—इानी पुरुष अपने ज्ञानके बलसे कर्मोंको नष्ट कर देता है ऐसा जो कहता है सो अज्ञानी है क्योंकि बिना चारित्रिके अकेले ज्ञानसे कमी कर्म नष्ट नहीं हो सकते । मे स्वयं आप्तियोंको जानता हूँ मैं एक अच्छा वेद्य हूँ, ऐसा कहनेमात्रसे क्या व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ? कमी नहीं ।

मावाधि-जि. तकार रोग और आप्तिके जानने मात्रसे व्याधि दूर नहीं होती इसी प्रकार अकेले ज्ञानसे कर्म नष्ट नहीं होते किंतु, जैसे आप्तिको घोट छानकर पीनेसे व्याधि नष्ट होती है उसी प्रकार चारित्रिके कर्म नष्ट होते हैं ।

पुनं सेयद मिच्छामलसोदणोदुत्त सम्भवेसज्जे ।

५२

निष्पन्न शोषण प्रथम समकित भेष्य सेवा ।

पक्षैः शेषर काल एवं नाशन चालित हेतु ॥

अर्थ-सम्यक् शोषण की सबसे प्रथम निष्पन्नारूपी मलका शोषण सम्यक्तरूपी  
लगायनेसे करना चाहिये । पुनः चारित्ररूपी शोषणका सेवन करना चाहिये । इस-  
कारण कारण करनेसे कर्मरूपी रोग उत्पन्न ही नियमपूर्वक नाश ही जाता है ।

साधारण-सम्यग्द्वन्द्वके विना ध्यान और चारित्र निष्कल है प्रबोध नाश  
सम्यक्चरित्रिने ही होता है । यदि सम्यग्द्वन्द्वनपूर्वक चारित्र है तो क्रमिक नाश  
होनेमें कल ही रित्तव नहीं है । सम्यग्द्वन्द्व होने पर भी उत्तरक सम्यक् चारित्र पूर्व-  
अर्थसे शान नहीं है उत्तरक कर्मोका नाश कदापि नहीं होगा और निष्पत्त्यके  
साथ चारित्र धारण किया जाय तो केवल संसारका ही बर्दक है कर्मोका नाश  
करने शक्य नहीं है । इसलिये सबसे प्रथम निष्पत्त्यका नाश कर चारित्र धारण  
करना चाहिये ।

अण्णाणी विमयविरतादो होदस्यमहस्मगुणो ।

वाणी कमायविरादो विसयासुचो जिशुद्विट् ॥ ७४ ॥

महाली भिद्यच्छित्तं कुरु कृपाप विन होय ।

तां हन्ती विषय शुभ जिन कं दे लख गुन तोय ॥ ७४ ॥

अर्थ - मिथ्यादृष्टी ( कृशान्ती ) जीव विषय और कृपायोसे विरक्त होकर फल प्राप्त करता है सम्यग्दृष्टी जीव विषय कृपायोको मान करते हुए भी उससे लाख दुष्पी फल अनायास ही प्राप्त कर लेता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवानने कहा है ।

साकार्य - विषय बंद यको भेचन करने हुए भी सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको मिथ्यादृष्टी विनशित पारोकी अर्थधाम अमरुगान गुणी कर्मोंकी निर्वाग होती है । प्रथम तो मिथ्यादृष्टोंको कर्मोंकी निर्वाग ही होता नहीं है कदाचिन् यह मिथ्यादृष्टी मोहनीय कर्मके मोहोदयेने श्री जिनेन्द्र भगवान कथिन चारित्र्यको धारण कर लेंगे और समस्त प्रकारकी विषय कृपायका परित्याग कर देंगे तो भी कर्मोंकी निर्जरा मिथ्यादृष्टीको नहीं होती है । ११. पुण्यकी शाल्य अवश्य ही होती है , इमलिन मिथ्यादृष्टीका विषय कृपायोका परित्याग कार्यकारी नहीं है और सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको विषय कृपायका भेचन सकारके बंधका कारण संस्था नहीं है ।

विणओ अत्किविधीणो मदिल्लणं रोमणं विणा जेहं ।

आणो वेरम्मद विणारं देहं चारिया मणिमा ॥ ७५ ॥

अर्थ—मक्तिके बिना विनय, स्नेहके बिना शिष्योंका रुदन, वैराग्य भावके बिना त्याग, यह सब विदंबना है।

मावार्थ—मक्तिके बिना विनय करना छल या विदंबना है, प्रेमके बिना शिष्योंका रोना विदंबना है, उसीप्रकार वैराग्य उत्पन्न हुए बिना धरका त्याग कर देना केवल विदंबना है।

सुहृदो सुरत्त विणा महिला सोहृगगरद्वियपरिसोदा ।  
वैररग णाणसंजमहीणा खयणा ण किं चि लभंते ॥७६॥

दृष्ट शक्ति विन कामिनी विन लोहाग सोमन ।

संजम ज्ञान विराग विन, श्वी मुनि कसु न लईन ॥ ७६ ॥

अर्थ—शुचीर शक्तिके बिना, स्त्री मोमागके बिना जिस प्रकार कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार संजम ज्ञान और वैराग्यके बिना मुनीश्वर भी वषेष्ट सिद्धि नहीं प्राप्त करावा है।











रूप- २

अर्थ--कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है और कौनसी वस्तु त्याज्य है इस प्रकार आत्महितके लिये सम्यक् विचार कर एवं संसार शरीर भोगोपभोग पदार्थोंसे विरक्त होकर जो जिनलिंगको धारण कर तपश्चरण [ ध्यान ] करता है वह मोक्षके सुखका अधिकारी है। तत्र असत् योग्य अयोग्य हित अहित प्राप्त अग्राह्य वस्तुके विचार रहित केवल पाद सुखका परित्याग करनेसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति नहीं होती है।

माचार्य--अिनको आत्माका परिज्ञान है स्वानुभव है और चिन्होंने भेद विज्ञान द्वारा आत्मीय और अनात्मीय वस्तुका विचार कर आत्मीय धमा मादेव आदि गुणोंको धारण कर पर पदार्थ अनात्मीय कर्म चेतन और कर्म फल चेतनाका परित्याग कर दिया है तथा संसारके स्वरूपको हेतु व दुःखकारी समझकर वैराग्यभावसे जिन लिंगको धारण कर कठिन व्रत तपश्चरणके द्वारा कर्मफलको दूर कर दिया है वे ही मोक्ष सुखके अधिकारी हैं। किंतु अिनको आत्मज्ञान नहीं है मोक्षियाहेपका विचार है केवल पाद सुखका त्यागकर साधु बन गये है ये कठिन तपश्चरण करते हैं भी योग्य सुखके फलानि अधिकारी नहीं हैं। परमपदार्थन जे प्राप्तिके का पर काय को

संसार



फारम न क्षये न मल्ल पर जो विन सम्पक मुक्त ।  
लिंग धनु बरतपति जनु सो जिय खेद झनुक्त ॥ ८७ ॥

अर्थ—जो जीव परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है और जो सम्पत्तिरहित रहित है वह जीव न तो गृहस्थ अवस्थामें है और न साधु अवस्थामें है केवल लिंगको धारण कर स्या करते हैं । कर्मोंका नाश तो सम्पत्तव पूर्वक जिन लिंग धारण करनेसे ही होता है ।

मत्त्वार्थ--सम्पत्तिरहितको विना धारण किये वत तप आचरण और साधु अवस्था व्यर्थ है, संसारको ब्रह्मदाने वाली ही है । संसारमें अनेक मनुष्य साधुका भेष धारण कर अपनेको महंत मान कर अनेक प्रकारके अपेक्ष रखकर संसारके जीवोंको ठगते हैं और विषय क्लेशोंसे अपनी आत्माको ठगते हैं । वे फर्मोंका नाश नहीं कर सकते हैं । वे मल (आत्मा) को नहीं जान सकते हैं । इसलिये सम्पत्तिरहितको धारण कर आत्माके ब्रह्मको सबसे मध्यम ज्ञानना चाहिये पुनः दीक्षा ग्रहण करना चाहिये ।

अध्याजं पिजपिच्छह ण सुणह णवि सद्धदह ण भावेह ।  
षट्पुत्रस्य भारमुत्ते लिंगं चिन्तु णिः करहे ॥८८॥



१६

एष-

आत्माको कर्मजन्य दुःख का मार है ही और जब यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूप टंकी-  
 रक्षीर्ण ज्ञापकस्वभाव आत्माको जान लेता है, अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त हो जाता  
 है उसी समय अन्त मुक्तको स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। इसीलिये मुनिगण शुद्ध-  
 स्वरूप अपने आत्मस्वभावका ध्यान करते हैं, अपने शुद्धस्वरूपमें तन्मय हो जाते हैं  
 और मोक्षमुक्तको प्राप्त करते हैं।

भाषार्थ-जबतक अपनी आत्माके शुद्धस्वरूपकी भावना नहीं है, स्वस्वरूप-  
 की प्राप्ति नहीं है और जबतक अपने भावोंकी स्थिरता अपनी आत्माके शुद्धस्वरूपमें  
 दृढतासे नहीं है तबतक जिनलिंग धारण कर कठिन तपधरण करना उत्तम  
 सुखका कारण नहीं है। इसलिये स्वात्मस्वरूपको जानकर तपधरण करना स्वैध-  
 सिद्धिके लिये लाभदायक है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि अपने आत्म-  
 स्वरूपको जान बिना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। जिनलिंगको धारण कर  
 अभ्यन्तरीयर्था नवम-मैथैयिक पर्यन्त वक्ष्य अहमिन्द्रोक्तं सुख प्राप्त कर सके हैं।  
 जिनलिंग धारण करनेका साहाय्य ही अत्यन्त और लोकोपर है। जो मुख्य किस्ती भी

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सार

॥





भावार्थ—सम्यग्दृष्टी भव्य जीव ही जिन लिंगको धारण कर मोक्षके अधिकारी है। निर्वाणप्राप्तिकी योग्यता सम्यग्दृष्टि जीवोंको ही है। सम्पद्दर्शन की प्राप्ति आत्माके स्वरूपको जाननेसे ही होती है। जिनने आत्माके स्वरूपको जाना है उनने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है। इसलिये तत्त्वोंकी यथार्थ प्रतीति और निर्दोष परिज्ञान आत्माके स्वरूपको जाननेवाले भव्यात्माको ही है और उनको ही सम्यग्दर्शन है।

पवयणसारव्भासं परमप्याज्ज्ञाणकारणं जाणं ।  
कम्मवखवणणिमित्तं कम्मवखवणेहि मोक्षससोक्खं हि ॥१२॥

प्रवचनसार अभ्यास त्रिदि परम ध्यानको हेतु ।

ध्यान कर्म खेपे करम खिपे मोक्ष सुखदेत ॥१२॥

अर्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका अभ्यास ही परम परमात्माके ध्यानका कारण है। त्रिदुद्ध आत्माके स्वरूपका ध्यान ही कर्मोंका नाश व मोक्षप्राप्तकी प्राप्तिके लिये प्रथम कारण है।



हे । परिणामोंकी विशुद्धता हुए बिना आत्माके साथ अपनी आत्माके शुद्ध स्वरूपमें कदापि एकाग्रता पूर्वक स्थिर नहीं रह सके हैं । मोहोदयसे जीवोंके मानोंमें राग द्वेष की मलिन परिणति नियमपूर्वक अवश्य ही होती है और राग द्वेषसे आर्चि रोद्र अप्रमत्त ध्यान दुर्गतिके कारण होते हैं ।

सालविहीणो राउ दाणदया धम्मरहिय गिह सोहा ।  
 णाणविहीण तवो विय जीवविण। देह भोहं च ॥ १२ ॥

साल राज बिन दान दय धर्म गदित गृह देखि ।

ज्ञान होन तप जीव बिन देह सोग अँ पेलि ॥ १२ ॥

अर्थ—जिम प्रकार परिकोटा (नगरस्थाका कोटा) के बिना राजाकी शोभा, दान दया और धर्मके बिना गृहस्थकी शोभा, जीवके बिना गुतक शरीर की शोभा विफल है उसी प्रकार ज्ञानके बिना तपकी शोभा भी विफल है ।

भाषार्थ—सम्पन्नानके साथ तपभरण फलोंके नाशका कारण है । अनेक प्रकारकी धर्म, मर्यादा सर्वलोककी पूज्यता आदिका कारण भी सम्पन्नानपूर्वक तप-  
 अर्थ ही है ।



पाणव्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणए किंपि ।  
 पाणं तस्स ण होइ हु ताव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खो ॥१४॥

ज्ञानाभ्यास विन सुपर तस्य न कुलु जानंत ।

एयान न होइ न कर्मद्वय मोक्ष न हे तावंत ॥ १४ ॥

अर्थ--सम्यग्ज्ञानके अभ्यास विना यह जीव भेद विज्ञानको प्राप्त नहीं होता है । आत्मतत्त्व और परतत्त्वको सर्वथा ही नहीं जानता है । स्वरके ज्ञान विना स्थान नहीं होता है और सम्यक् ध्यानके विना कर्मोंका क्षय और मोक्ष कदापि नहीं होती है । इसलिये सम्यग्ज्ञानका अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये ।

भावार्थ--मिथ्या शास्त्रोंके अभ्याससे आत्मामें मिथ्या ध्यान पूर्वक कुतश्चका ही ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान नहीं होता है । जीवोंको मिथ्या शास्त्रोंका अभ्यास प्रत्यक्षमें ही शूदीत मिथ्यात्वकी बढ़ानेवाला और धर्मकर्मसे शून्य बनानेवाला है । नास्तिकताके भाव और बुद्धिमें मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति करानेवाला है । जीवोंको जितनी बड़ी भारी दानि मिथ्याशास्त्रोंके अभ्याससे होती है उसनी दानि छुदेव रोक्वन् हिंसा मूंट और पापाचरणके रोक्वन् फरते से नहीं । यही है । यौक्तिक विद्वान्-



रुचका कशीकण्य और कषायोंका उपगम होता है इसलिये पंचमकाल भरतक्षेत्रमें एक विभागमका ही अभ्यास करना श्रेष्ठ है । कभीके नाश करनेका यही मूल कारण है ।

सावधि-धी विनेन्द्र भगवानका प्रणीत सत्यार्थका प्रकाश करनेवाला आगम है । विभागमेंके अभ्याससे मासधृत और द्रव्यश्रुतकी प्राप्तिके साथ मग और इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह होता है और विषय कषाय तथा काम क्रोध मान माया राग द्वेषादि विकारभागोंसे आत्माकी परगति रुक जाती है इसप्रकार राग द्वेषकी परबन्धिका संशोध होनेसे आत्मा अपने शुद्ध स्वसमपरसमें तल्लीन हो जाता है । स्वामस्वभावमें स्थिर होना ही ध्यान है ।

धम्मज्झाणवभासं करेह निविहेण जाव सुद्धेण ।

परमध्जज्ञाणचेतो तेणैव खेत्तेह कम्मणि ॥ ९६ ॥

धम्मज्झान धम्माम फरि भाव सुद्ध त्रिविधेन ।

चेथा आत्मध्यानपर काम उपपत्ते तेन ॥

अर्थ—एक कषय कापकी विरुद्धतासे अपने आत्मके परिणामोंमें होने वाले कर्मों के कारण ही स्वभावमेंके अभ्यास करनेसे आत्मिक तत्त्वोंके





पुनः प्रारंभ निवृत्ति ह्य प्रवृत्ति पुरव आरंभ ।

धर्म ध्यान बँटा ज्ञानको जिन सब जीवन धर्म ॥ १७ ॥

अर्थ- पाप कर्मोंकी निवृत्ति और पुण्य कर्मोंमें प्रवृत्तिका मूलकारण एक सम्यग्ज्ञान है । इसलिये इससु जीवोंके लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान श्रीजिनेन्द्र देवने कहा है ।

भारतीय-सम्यग्ज्ञानसे तरव अतर्क, धर्म अर्थर्म, पुण्य पाप, दित अहित, योग्य अयोग्य, कर्तव्य अकर्तव्य, शास्त्र और अशास्त्रका बोध होता है । भव्य जीव सम्यग्ज्ञानसे अपनी आत्माका शुद्ध स्वरूप विचार कर अपने आत्मपरिणामोंको छोड़कर पर पदार्थों पर राग द्वेष नहीं करते हैं और न विषय कर्मायों की सिद्धिके लिये दृष्टानिष्ट वास पर पदार्थोंमें दुःखादुःख संकल्प विकल्पही करते हैं । इसलिये सम्यग्ज्ञानी पुरुषकी स्वाभाविक स्वयमेव ऐसी विदुद परणति हो जाती है कि जिससे उनकी दिसादिक पाप कर्मोंमें दुःख नहीं होती है । वे पुण्योत्पादक शुभ चारित्र्य की निरन्तर प्रवृत्ति करते हैं । इसलिये सम्यग्ज्ञानसे जीवोंके भावोंमें साम्यभावकी स्थिरता प्रकट होती है । शास्त्रोपरान्त विद्याभाषापरहित साम्य व्यवस्था ही धर्मध्यान है ।



को अज्ञान भारका प्रकट करनेवाला है। ऐसे महान विशाल ज्ञानसे यतीश्वरोंको\* भी बस्तुरस्तरा यथार्थरोष कदापि नहीं होता है। बल्कि मिथ्याज्ञानभावसे उनका लक्ष्मण भी आत्मरोष रहित होनेसे संगमरका ही कारण होता है।

\* जब कि यतीश्वरोंको भी मिथ्याशस्त्रों की श्रृंखला से अज्ञान के कारण तट परनेवाला और अज्ञानका कारण है ता तृतीयोंका मिथ्याशस्त्रोंकी मर्गात्त तो केवल पापशायीका ही प्रधान धारण समझना चाहिये। गूढ़ानामिथ्याशस्त्रका मुख्यकारण कुशास्त्रोंका श्रृंखला है। जो गूढ़रूप केवल मिथ्याशस्त्रोंका अज्ञान का परिणाम था ज्ञानो वनते है ये दिलादित्तके विवेकपूर्ण निम्न पापशायीको प्रवृत्ति करने वाले और अज्ञानजालसे ग्रस्त होते है। वनका श्रृंखला जालिय रचियर नहीं होता है। ये मिथ्यावाचिश्रिते हा अज्ञानका दित्त समझने है। ज्ञानो वनो मिथ्याशस्त्रका परिणामतन पर महान ज्ञान संवादन कर शंभक ओमो परिणाम समझना शक्य नहिणके विशेषो वनकर पापशायीको ही ज्ञान मानते है। एतत् प्रकाशित कर विवेकजाल से अज्ञानको ही कृत्रिमता है और मिथ्याशस्त्रका कारण है। मिथ्या शस्त्रोंका जाल अज्ञान के कारण है।



बारह भावनाओंके द्वारा तत्त्व स्वरूपका विचार करनेवाले ज्ञानी भव्य जिनलिंग धारक सुखधु यतीश्वर होते हैं ।

भावार्थ—यतीश्वरोंका स्वरूप चार लक्षणोंसे प्रकट होता है । यतीश्वर विकथादि पापजन्य बातें और परिग्रह विषय कथायोंको बढ़ानेवाली 'किरसा कहानियां' नहीं करते हैं । आधादि कर्मके दोषोंसे उत्पन्न हुए आहारको ग्रहण नहीं करते हैं । उनका समय जिन शासन की वृद्धिके लिये निरंतर धर्म देशना ( धर्मोपदेश ) में ही व्यतीत होता है और वे सतत बारह भावनाओंसे संसार-शरीर भोग आदिकसे विरक्त होकर अपने आत्मतत्त्वके विचारमें लीन रहते हैं ।

अवियपो णिहंदो णिमोहो णिकलंकओ णियदो ।

णिम्मल सहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ ॥१०१॥

अविकल्पी निरदुन्दर मोह निय न निकलंक ।  
निर्मल शुद्ध सुभाव मुनि सो योगीश निसंक ॥१०१॥

अर्थ—परमोत्कृष्ट एनीश्वरका स्वरूप प्रकलाते हैं । जो यतीश्वर छुमाशुभ संकल्प विकल्पोंसे रहित है, निन्दित भ्रमोह है, निरालंक है, अपने स्वरूपमें स्थिर है और



भाषार्थ—उत्तम संदहनके धारक और मूलगुण तथा उत्तर गुणोंके प्रतिपालक तद्वत्सारे सोधकी प्राप्ति करनेवाले यतीश्वरोंका स्वरूप बतलाते हैं—जो यतीश्वर समस्त प्रकारके उपसर्ग व समस्त प्रकार की परीपदके दुखोंका अनुभव न कर अपने स्वार्त्तम-सुख स्वभारमें स्थिर रहते हैं, वचन गुप्तिका पालन करते हैं द्वादशांग श्रुतज्ञानका अभ्यास कांतें हैं, शुभध्यानमें तत्पर रहते हैं और परिग्रहरहित जिनलिंगको धारण कांतें हैं वे ही परम यतीश्वर हैं।

पद्यपि मुनीश्वरोंका वाह्य स्वरूप जिनलिंग ही है जिन भव्य दृष्टुधु जीवोंने परिग्रह का परित्याग कर निःसह्यभागसे जिनलिंग (नग्न दिगम्परत्व) को धारण कर मूल-गुणकी प्रागपना की है वे ही मुनीश्वर हैं। सामान्यरूपसे सर्व मुनीश्वरोंके उत्तम संदहन नहीं होता है। जिन मुनीश्वरोंको उत्तम ब्रह्मसुपभनाराच संदहन है। वे उत्तम व समस्त प्रकारकी परीपदोंको सहन कर साम्यभावकी प्राप्ति करते हैं, द्वादशोंके पाठी और आषड्भुजके धारक होते हैं।

सित्त्ये वापयि चोरे न त्वेवने गच्छत इति ॥ १ ॥

१५२- ८१

1000

1000

1000



आवश्यकता है क्योंकि निर्मल आत्मामें ही आत्माका अनुभव होता है । जो  
 आत्मा राग-द्वेषसे मलिन है उसमें आत्माका अनुभव कमी नहीं हो सकता । इसलिये  
 साधुओंको सबसे पहले अपने रागद्वेष आदि दोषोंका त्याग कर आत्माको निर्मल  
 बनाना चाहिये, जिससे अपने आत्माका अनुभव हो सके ।

**दंडत्तयसत्तत्तयमंडियमाणो असूयगो साहु ।**  
**भंडणजायणसीलो हिंडह सो दीहसंसारे ॥१०५॥**

दंडशक्यत्रय मुंडियो निदक साधु जु होय ।

भंडण जाचण शील है हिंडे वहुभव सोय ॥ १०५ ॥

अर्थ--जो मूनि मन वचन कायको अपने वशमें नहीं रखते, माया मिथ्या  
 निदान इन तीनों शक्तियोंको धारण करते हैं जो दूसरोंसे ईर्ष्या धारण करते हैं जो रुबाई  
 सगढा करते हैं और याचना करते हैं वे साधु इस संसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण  
 करते हैं ।

देहादिर अणुरत्ता विसयासत्ता ॥ सायसंजुत्ता ।

सर्वज्ञको उपदेश यह सो नहि शिव सुखमुक्त ॥१०३॥

अर्थ—जो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाले भावोंको धारण करता है परंतु काय बलेगु अत्यंत तीव्र करता है। ऐसा जीव भी मोक्ष सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। यही सर्वज्ञ देवका उपदेश है। अभिप्राय यह है कि तीव्र तपश्चरण करने पर भी जब तक मिथ्यात्वको धारण करता है तबतक उसे कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

रायाहमलजुदाणं णियधरूवं ण दिस्सये किं पि ।  
समलादरिसे रूवं ण दिस्सए जह तहा जेयं ॥ १०४

रागादिक मउ जुण निज रूप तनक ना दोल ।

समज कामो रूप जिम नाहि जयवत दील ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अप्रतिबिम्ब प्रकाश ही दिखाने नहीं देता उसी प्रकार जिनका आत्मा राग द्वेष आदि दोषोंमें मलिन हो रहा है उस मलिन आत्मामें आत्माका यथार्थ स्वरूप भी दिखाने नहीं देता है।

भावार्थ—अपनी दृढ़ आत्माका अनुभव करनेके लिये आत्माके निर्मल होनेकी

आवश्यकता है क्योंकि निर्मल आत्मामें ही आत्माका अनुभव होता है । जो आत्मा राग-द्वेषसे मलिन है उसमें आत्माका अनुभव कभी नहीं हो सकता । इसलिये साधुओंको सबसे पहले अपने रागद्वेष आदि दोषोंका त्याग कर आत्माको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे अपने आत्माका अनुभव हो सके ।

दंडत्तयसलत्तयमंडियमाणो असूयगो साहु ।  
 भंडणजायणसीलो हिडइ सो दीहसंसारे ॥१०५॥

दंडशब्दत्रय मुंडियो निदक साधु जु होय ।

मंडण जाचण शील है हिडे यहभव सोय ॥ १०५ ॥

अर्थ—जो मुनि मन ध्यान कायको अपने वशमें नहीं रखते, माया मिथ्या निदान इन तीनों शक्तियोंको धारण करते हैं जो दूसरोंसे ईर्ष्या धारण करते हैं जो लबाई सगडा करते हैं और याचना करते हैं वे साधु इस संसारमें दीर्घ कालतक परिभ्रमण करते हैं ।

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता ।

व्याजपशाने मत्ता ने पात्त प्रकण्डित्तता ॥ १०६ ॥

सोमन व्याप सुभावंतं सो मुनि समर्पित मुक्त ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो मुनि शरीर भोग वा सांसारिक कार्योंमें अनुरक्त रहते हैं, जो विपयोंके सदा आधीन रहते हैं, कर्पायोंको धारण करते हैं और अपने आत्माके स्वभावमें सदा सोते रहते हैं, आत्माके स्वभावको प्रगट करनेमें कभी जागृत नहीं होते ऐसे मुनियोंको सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टी ही समझना चाहिये ।

आरंभे घणघणने उवयरणे कबिस्त्रिया तथा सूया ।

वयगुणसीलविहीणा कसायकलहपिया मुहुरा ॥ १०७ ॥

संघविरोहकुसीला सचछंदा रहियगुरुकुला मृढा ।

रायाहसेवया ते जिणघम्मविराहिया साहू ॥ १०८ ॥

हे आरंभ घनघान उपकरणरञ्जं झरु जाच ।

वनगुणसील विना मलद प्रिय कयाय बहुवाच ॥ १०७ ॥

मृद कुशील विरोधसंघ गुरुकुल रहे स्वछंद ।

राजसेव कर जिन धरम हे विरोध मुनिमंद ॥ १०८ ॥

अर्थ—जो सुनि होकर भी किसी आरंभकी, धनकी, धान्यकी या किसी उपकरणकी इच्छा करते हैं, जो अन्य साधुओंसे ईर्ष्या करते हैं, जो व्रत समिति गुप्ति तथा धीलसे रहित हैं, जो कृपायुक्त वशीभूत हैं, कलह करनेवाले हैं और बहुत बोलते हैं, जो सपत्ते विरोध करते हैं, कुशीलवा धारण करते हैं, जो गुरुके आधीन न रह कर स्वतंत्र रहते हैं, गुरुके समीप नदी रहते अथवा गुरुकी आज्ञानुसार नहीं चलते, जो अज्ञानी हैं और राजादिककी सेवा करते हैं उन साधुओंको जिनधर्मके विरोधी समझना चाहिये।

जोहसविज्जामंतोपजीवणं वा य वस्सववहारं ।

धणवणगपडिरगहणं समणानं दूमणं होह ॥१०९॥

अनित्यविद्या मंत्र उग्रीवन ययं व्योहार ।

धनधन्यादिक प्रतिपद्यु मुनिदूमन परमाद ॥

अर्थ—जो सुनि ज्योतिषशास्त्र वा किसी अन्य विद्यासे वा मंत्र तंत्रोंसे अपनी उपजीविका करता है, जो वर्षवक्रके व्यवहार करता है और धनधान्य आदि संपत्तियों को दूषित करनेवाला होता है।



फरलाती है। जिस प्रकार किसी गढ़ेको मिट्टी कूड़ा आदि चाहे जिससे भर देते  
 हैं उसी प्रकार इस पेटको अच्छे घुरे चाहे जैसे आहारसे भर लेना द्वाभ्रपूर्ण विधि  
 है। धनरसि स प्रकार फूलोंको कट न देना हुआ उनका रस लेता है उसी  
 प्रकार किसी भी गृहस्थको कट न देते हुए आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है। इस  
 प्रकार इन आहारकी विधिओंको जान कर इनके अनुसार आहार ग्रहण करना  
 चाहिये।

रसरुहिरमंसेमदटिठसुकिलमलमुतपूयकिमि बहुलं ।  
 गंध मसुह चम्पमयमणिच्चमचेवणं पउणं ॥११५॥  
 दुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमपणो देहो ।  
 ण चेदि पोसए भिवखु । ११६ ॥

मलमुत्त ।

अचेतन सुत्त ॥ ११५ ॥

तमा देह ।

सुत्त ॥ ११६ ॥





पापना कर आहार लेता है, धा संकलेग परिणामोंको धारण करता हुआ आहार लेता है, अपने रौद्र परिणामोंसे आहार लेता है वा क्रोध करता हुआ आहार लेता है । यह साधु नहीं है किंतु उसे व्यंत्तर समझना चाहिये ।

भाषार्थ—व्यंत्तर नीच दंड होते हैं । क्रोध कलह करना, रौद्र परिणाम धारण करना, संकलेग परिणाम करना आदि उनका कार्य रहता है । मुनियोंका यह कार्य नहीं है । इसलिये जो मुनि दोकर भी ऐसे मलिन परिणाम रखता है वह नीच व्यंत्तरके समान है ।

दिव्युत्तरणसरित्थं जाणिञ्चाहो धरेइ जह सुद्धो ।  
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगयपिंडं ॥ ११८ ॥

दिव्यु तिरन राम जानिये शुद्ध है धार झहार ।

तपत सोद सम पिंड तुन मुनिवर कयलदि धार ॥ ११८ ॥

अर्थ—हे मुनिवर ! तेरे हाथपर रखवा हुआ आहारका पिंड यदि तपाये हुए सोदके गोलके समान अत्यंत शुद्ध है तो तू उसे संसारसे पार करदेनेवाला समझकर प्रवण कर ।

अर्थ—यह शरीर रस, रुचि, मांस, मेदा, इट्टी, बीज, मल, मूत्र, पीव आर अनेक प्रकारके कीड़ोंमें भरा हुआ है। इनके मित्राय यह शरीर दूग्धमय है, अपवित्र है, जन्मनेसे लपेटा हुआ है अनित्य है, सब है और नाश होनेवाला है। यह शरीर अनेक प्रकारके दुःखोंका पात्र है, कर्म आनेका कारण है और आत्मासे सर्वथा भिन्न है। ऐसे शरीर को हुनिगात्र कर्मी पालन पोषण नहीं करते है किंतु यही शरीर धर्मा-दुष्टानका कारण है। यही समस्त कर हम शरीरसे धर्म सेवन करनेके लिये आर मोक्षमें पहुँचनेके लिये हुनिगात्र मनुष्यो धेंदवाना आहार देते है बिना आहारके यह शरीर चल नहीं सकता और बिना शरीरके धर्मालुष्टान हो नहीं सकता वा चरित्र पालन हो नहीं सकता ईर्ष्यालिये इनको आहार देका इनने चरित्र पालन कगथा जाता है। मृत्तिसाजोंके आहार इन कर्मोंका यही कारण है और कुछ नहीं।

कोट्टेण य कलहेण य जायण सीलेण संविलेमेण ।

रुट्टेण य रोमेण य भुंजह किं धितरो भिक्खु ॥ ११७ ॥

कोन कलह का नचिके सक्तेम परिणाम ।

इतर म कल्ल भुंजत नंदे मधू जग्गाम ॥ ११७ ॥

कहें—को हुनि कोन दिग्गलाह्य आहार लेता है, कलह कर आहार लेता है।

अधिरत देश महाधिरत श्रुति रुचिरत्त्व विचार ।

पात्र तु अंतर सदसगुन कद्वि जिनपति निरधार ॥१२०॥

अर्थ—अधिरत सम्यग्दृष्टी, देगुत्रती श्रावक और महाप्रतियोंके भेदसे आगम में रुचि रखनेवालोंके भेदसे और तत्त्वोंके विचार करनेवालोंके भेदसे भगवान् जिनन्द्रदेवने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं ।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यग पात्र है और अधिरत सम्यग्दृष्टी अधन्यपात्र है । इनमें भी मुनियोंमें अनेक भेद हैं श्रावकोंमें अनेक भेद हैं और अधिरत सम्यग्दृष्टियोंमें अनेक भेद हैं । इस प्रकार पात्रोंके अनेक भेद हैं ।

उवसम णिरीह ज्ञाणज्झयणाहमहागुणा जहा दिट्ठा ।

जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तथा भणिया ॥ १२१ ॥

उपशमध्यानाध्ययन महा अभच्छक दिय ।

जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहे उक्कए ॥१२१॥

अर्थ—उपशम परिणामोंको धारण करनेवाले, विना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले तथा अध्ययन करनेवाले मुनिराज उत्तमपात्र कहे जाते हैं । मुनियोंके इन महा पात्रोंकी किसी लक्ष्मी लक्ष्मी



अविरत देश महाविरत श्रुति रुचिरत्व विचार ।

पात्र तु धंतर सरसगुन कटि जिनपति निरधार ॥१२०॥

अर्थ—अविरत सम्पत्गृही, देवद्वती श्रावक और महाव्रतियोंके भेदसे आगम में रुचि रखनेवालोंके भेदसे और तप्योंके विचार करनेवालोंके भेदसे भगवान् जिनेन्द्रदेवने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं ।

भावार्थ—मुनि उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है और अविरत सम्पत्गृही अपन्यपात्र है । इनमें भी मुनियोंमें अनेक भेद हैं श्रावकोंमें अनेक भेद हैं और अविरत सम्पत्गृहीयोंमें अनेक भेद हैं । इस प्रकार पात्रोंके अनेक भेद हैं ।

उत्तम णिरीह ज्ञाणञ्जयणाहमहागुणा जहा दिट्ठा ।

जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तथा भणिया ॥ १२१ ॥

उत्तमपात्रनाम्यन महा अर्थच्छक दिय ।

जे मुनि एते गुण सहित पात्र कहे उक्कट ॥१२१॥

अर्थ—उत्तम परिणामोंको धारण करनेवाले, बिना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले तथा अध्ययन करनेवाले मुनिराज उत्तमपात्र कहे जाते हैं । मुनियोंके इन महा गुणोंकी जैसी जैसी वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे पात्रताकी उत्कृष्टता इनमें आती



णत्रि जाणह जिणसिद्धसरूव त्तिविहेण तह णियप्पाणं ।  
जो तिव्वं कुणह तयं सो हिडह दीहसंसारे ॥ १२४ ॥

नदि जने त्रिन सिद्ध अठ निज स्थल त्रिविधे हि ।

सो तय तीय करे तऊ भंय दीयं भव लेह ॥ १२४ ॥

अर्थ--जो सुनि न तो भगवान अरहंत देवका स्वरूप जानता है, न भगवान सिद्ध परमेशीका स्वरूप जानता है और न बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्म्याके मेसे अपने आत्माका स्वरूप जानता है वह सुनि यदि तीय तपश्चरण करे तो भी यह इस जन्म मरण दर महासंसारमें दीयं कालतक परिभ्रमण करता है ।

भावार्थ--पंच परमेशिका तथा आत्माका स्वरूप जानना सम्पगर्दशनका साधन है । जो इनका स्वरूप नहीं जानता वह सम्पगर्दशनको भी प्राप्त नहीं कर सकता । तथा बिना सम्पगर्दशनके तीय तपश्चरण करने पर भी वह संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है ।

णिच्छपवचदारसरूवं जो रयणत्तये ण जाणह सो ।  
जं कीरह तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्धिं । १२५ ॥





भी क्या साथ है। कुछ सम्पर्कदर्शनके बिना ज्ञान और तप दोनों ही संसारके कारण प्राप्तने चाहिये।

भारार्थ—सम्पर्कदर्शनके साथ साथ होनेवाला ज्ञान और तप मोक्षका कारण है, बिना सम्पर्कदर्शनके ज्ञान और तप दोनों ही मिथ्या कहलाते हैं। तथा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या तप दोनों ही संसारके कारण हैं।

वयगुणमीलपरीसहजयं च चरियं च तवं पडावसयं ।  
ज्ञाणज्ञायणं भवं सम्प्रविणा जाण भववीयं ॥२२७॥

मनगुणगौल परीपत्रय आवसि तर चरित्र ।

ध्यानधन सम्पत्त्र निन भवइ वीज सकत्र ॥२२७॥

अर्थ—बिना सम्पर्कदर्शनके त्रुत पालन करना, गुप्ति समिति पालन करना, कील पालन करना, परीपत्रोंको जीतना, चारित्रिका पालन करना, तपधरण करना, उर्दी आदेश्योंका पालन करना, ध्यान करना और अध्ययन करना आदि सब संसारके कारण ही समझना चाहिये।

भारार्थ—बिना सम्पर्कदर्शनके ये सब मिथ्या हैं, इसलिये बिना सम्पर्कदर्शनके ये सब संसारके कारण हैं।



भी क्या लाभ है । शुद्ध सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और तप दोनों ही संसारके कारण समझने पाहिये ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके साथ साथ होनेवाला ज्ञान और तप मोक्षका कारण है, बिना सम्यग्दर्शनके ज्ञान और तप दोनों ही मिथ्या कहलाते हैं । तथा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या तप दोनों ही संसारके कारण हैं ।

चयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं च तवं पडावसयं ।  
ज्ञाणज्ज्ञापणं सव्वं सम्मविणा जाण भववीयं ॥१२७॥

प्रतगुणशील परीपजय आवसि तप चारिज्ज ।

ध्यानाप्यन सम्यक्ख बिन भवद वीज सव्वत्र ॥१२७॥

अर्थ—बिना सम्यग्दर्शनके व्रत पालन करना, गुप्ति समिति पालन करना, शील पालन करना, परीपहोको जीतना, चारित्र्यका पालन करना, तपधरण करना, एही आवश्यकोंका पालन करना, ध्यान करना और अभ्यसन करना आदि सब संसारके कारण ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके ये सब मिथ्या हैं, इसलिये बिना सम्यग्दर्शनके ये सब संसारके कारण हैं ।

2

1

.

.

कामादविहायसदावगुणं जो भाविऊण भावेण ।

णियमुद्धृत्वा रुचइ तस्म य णियमेण होइ णिव्याणं ॥१२९॥

करमदिन, शविदगन, चभयेर एमवगुण ।

कचे गुद निज भान, निरे निधे निरवान हुइ ॥१२९॥

अर्थ—जो मुनेराज कर्मके उदयसे होनेवाले आत्माके वैभाविक गुणोंका ( राग-द्वेष मोह भद्र मत्सर कषाय आदि भावोंका) चितवन करता है तथा उन कर्मोंके नाश होनेसे शगट होनेवाले उत्तमधुमा मार्दव आँजब आदि आत्माके स्वाभाविक गुणोंका चितवन करता है । इन दोनोंके यथार्थ स्वरूपका चितवनकर जिसको अपने शुद्ध आत्माके प्रेम होता है, जो अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करता है उसको अवश्य ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

मृतुत्तरुत्तरदब्बादो भावकम्मदो मुक्को ।

आमवंधणसंवरणिजर जाणेह किं बहुना ॥१३०॥

मृतु उत्तर उत्तरउत्तर दब्बकर्म नदि भाव ।

अच्छर संवर निर्दएबंध अनिक्कर घाव ॥१३०॥





अर्थ-ज्ञानावरणादिक कर्म द्रव्यकर्म करलाते हे, उनकी मूल प्रकृतियां ज्ञानावरणादिक हे और उचरप्रकृतियां मतिज्ञानावरण आदि हे । अबग्रह ईहा अवाप धारणा वा स्मरण चिंता आदिको आवरण करनेचाले कर्मोंको उचरोचर प्रकृतियां करते हैं । जो मुनि मूलप्रकृति उचरप्रकृति तथा उचरोचर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्मोंसे संबंधा रहित है और राग द्वेष आदि मात्रकर्मोंसे भी संबंधा रहित है ये ही ब्राह्मच, वंश, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त पदायोंको जानते है ।

विसयविरत्तो मुंचइ विसयासत्तो ण मुंचए जोई ।  
वहिरंतरपरमप्याभेयं जाणेह किं बहुणा ॥ १३१ ॥

विषयविरत मुंचकविषय शक्त न मुंच मुनीश ।

बहिरंतर परमात्मा भेद जानि बहु फीश ॥ १३१ ॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त है वह इस द्रव्यकर्म और भावकर्मोंसे एट जाता है तथा जो मुनि विषयासक्त है वह इन कर्मोंसे कमी नहीं एट सकता । इसविषये हे मुनिराज ! बहुत करनेसे क्या लाभ है आत्मा जो बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके भेदसे हीन प्रकार है पढ़ले उसका स्वरूप समझ ।



शाले कल्पुष किंसाकपलको गही खाते या विष मिले लंछुओंको नहीं खाते उसीप्रकार  
अक्षय गुल खाते बाले जीरोंको इन्द्रियोंके सुखोंका संवंधा त्याग कर देना चाहिये  
आत्माका कल्याण हर्षसे हो सकता है ।

देहकलत्तं पुतं मिचाइ विहावेचेदणारुवं ।

अपासरुवं भावइ सो चैव हवेइ वहिरप्या ॥ १३४ ॥

तत्र कलत्र मुत्र मित्र बहु चेतनरूप विभाव ।

भवा क्यरुत्तु सो वहिरानमा लछाव ॥ १३४ ॥

अर्थ---सो जीर हम गुरींको आत्मस्वरूप मानता है, स्त्री पुत्र मित्र आदिको  
अपने आत्मस्वरूप मानता है अथवा राग द्वेष मोह आदि आत्माके वैभाविक परि-  
णामोंको आत्मस्वरूप मानता है यह आत्मा अवश्य ही वहिरात्मा है ।

भाषार्थ---गुरीर पुत्र मित्र कलत्र आदि सब इस आत्मसे भिन्न पदार्थ हैं । राग  
द्वेष आदि वैभाविक परिणाम भी आत्मसे भिन्न हैं क्योंकि वे कर्मके उदयसे होते  
हैं । त्रिनयनार सत्तिक पापामके पीछे लाल कृन्त रख देनेसे उस पापाममें लाली  
रिखाई देती है परंतु यह लाली उस पापामसे संवंधा मिश्र है । इसीप्रकार राग द्वेषादि

क्रियावद्द पक्ष विभिन्निस्मिदमोदगिन् चारुसुहं ।  
जिह्वमभूदं दिट्टिपियं जट तद्व जोजकखमोअंअं पि ॥२३३॥

विभिन्निस्मिदमोदगिन् चारुसुहं ।

जिह्वमभूदं दिट्टिपियं जट तद्व

अर्थ—क्रियावद् पक्ष विभिन्न होता है जो देखनेमें और खानेमें  
 अलग ही होना है । एकदम यह बहुत ही मोटा और सुंदर हो जाता है ।  
 जाटु यह क्रियावद् इसके खाने ही बहुत ही बुरा है । विमत्रकार क्रियावद्फल  
 खानेमें मर्दिराशि का जो सुख देनेवाला और देखनेमें सुंदर होता है उमीप्रकार इन्द्रि-  
 योंके सुख प्रदानके लिये इन्द्रियों के सुख देनेवाले होते हैं और उन समय अच्छे  
 काम करते हैं वांछु विषयका विकास करने के लिये बहुत दुख भोगता है और  
 मर जाता है क्योंकि इन इन्द्रियोंके सुखोंमें भी जीव अनेक प्रकारके दुख भोगते  
 हैं और जोसे कष्टकर समझने पर प्रसन्न किया करते हैं । अथवा विषय भिन्न हुए लाह  
 प्रियवद् का देखनेमें सुंदर और खानेमें मोटे होते हैं उमीप्रकार ये इन्द्रियोंके सुख हैं ।  
 उद्यम इन्द्रियोंके खानेमें सुख बहुत ही बुरा है उमीप्रकार इन्द्रियोंके सुखोंका फल भी  
 अथवा विमत्रकार का देखनेमें अनेक दुख माना है । इन्द्रिये विमत्रकार सुख खाने-

प्रो विचार ही नहीं करता वह आत्मतत्त्वका स्वरूप या जीवादिक समस्त पदार्थोंका स्वरूप कभी नहीं जान सकता। ऐसे अज्ञानी जीवको वहिरात्मा कहते हैं।

भाषार्थ—इन्द्रियजन्यसुख नरक निगोदके कारण हैं। जो मनुष्य केवल इन्हींमें लीन रहता है और इनमें लीन रहनेके कारण आत्मतत्त्वको भी नहीं जान सकता उसे प्राचार्योंने वहिरात्मा ही बतलाया है।

जं जं अक्खाणसुहं तं तं तिब्बं करेह बहुदुक्खं।

अप्पाणमिदि ण चिंइ सो चेव हवेइ वहिरप्पा ॥१३६॥

अर्थ—संसारमें इन्द्रियजन्यजितनेसुख हैं वे सय इस आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इसप्रकार जो मनुष्य इन इन्द्रियजन्य विषयोंके स्वरूपका चिंतन नहीं करता वह वहिरात्मा कहलाता है।

भाषार्थ—जित पदार्थका जंसा स्वरूप है उसका उसीरूपसे श्रद्धान करना सम्पन्नदेय है। इन्द्रिय जन्य सुखोंका स्वभाव आत्माको तीव्र दुःख देते हैं। इस बातको सच कोई जानता है। परन्तु जो अज्ञानी इन सुखोंका स्वरूप कभी चिंतन नहीं करता तथा बिना इनका स्वरूप जाने सदा इनमें लीन रहता है यह मिथ्याष्टी है और इसीलिये यह वहिरात्मा कहलाता है।



सुखेंदु न नुमा विषय भिन्न भव देहत ।

रु निजातर मुंठ टिपटुउत मयन कात ॥१३८॥

कई—जो आरना अपने आत्माको सुरीरादिकसे सर्वथा भिन्न मानता है तथा जो विषयोका प्रभुभव कर्षी स्वयमें भी नहीं करता । जो सदा अपने आत्माका प्रभुभव करता रहता है और मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है । उसे मत्पम आत्मा अपना अठरात्मा करते हैं ।

भारार्थ—जो आत्माके निव स्वरूपको जानता है और इसीलिये जो सुदुःख देनेवाले सनसता है इसीलिये जो उन विषयोका कर्षी सेवन नहीं करता । वह कैवल प्रपनी आत्म को ही अपना समझता है अतएव उसीका सदा अनुभव करता रहता है तथा मोक्षके अनेक सुखको प्राण करनेकी सदा लालसा करता रहता है वसुंके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है और उसीकी सदा भावना रखता है । एक दृष्टासे ही करना चाहिये कि इसी मोक्षके सुखमें सदा लीन रहता है ऐसा सुदुःखमयी प्रत्या अटपान्ना करतावा है ।



कर्मका उदय पना रहता है तबतक विषयवासनाका त्याग सर्वथा नहीं होता ।  
अनादिकातसे लगी हुई बह वासना पनी रहती है । वह वासना चारित्र मोहनीय  
कर्मके नाश होनेपर नष्ट होती है ।

सम्माइटी णाणी अक्खाणसुहं कंहेपि अणुहवह ।

कंणविण परिहारण वाहणविणासणट्टु भेसज्जं ॥१४०॥

सर्गदृष्टि इत्थं अथमुखं कंते अनुभव हो ।

कहू विधि परिहार नहि रुजहर मरि डि कोइ ॥ १४० ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी प्राप्तमहानी पुरुष इन्द्रियोंके सुखोंको अनिच्छा पूर्वक किसी  
भी प्रकारसे अनुभव करते हैं, जिसकारण कोई पुरुष रोगको दूर करनेके लिये औष-  
धिसेवन करता है उसीप्रकार वह सम्यग्दृष्टी पुरुष उन विषयोंका अनुभव करता  
है । जिसकारण औषधिका सेवन करना किसीको एत नहीं है, औषधिका सेवन करना  
एत पुरा समस्त है तथापि रोगके हां जानेपर उसका सेवन करना ही पड़ता है ।  
वह औषधिका सेवन कुछ इच्छापूर्वक नहीं होता तथापि ज्वरक रोग है तबतक उसका  
स्वाप भी नहीं किया जा सकता । इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष विषयोंके सेवन करने







को शुरा समझता है तथापि ज्वरतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है त्वरतक उस कर्मके उदयेसे उन विषयोंका सेवन करना ही पड़ता है। यद्यपि वह उन विषयोंका सेवन इच्छा पूर्वक नहीं करता तथापि ज्वरतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है तब तक उनका त्याग भी नहीं कर सकता । चारित्रमोहनीयकर्मका ज्वर मंदोदय होता है तभी विषयोंका त्याग होता है ।

किं बहुणा हो तजि वहिरपरसल्लावाणि सयलभावाणि ।  
 भजि मज्झिमपरमप्या वत्थुसल्लावाणि भावाणि ॥ १४१ ॥

बहुत कदा कहि रूत तजि सर्वे माव वरिणत ।

बहुतरूप स्वभावम्भ भजि मध्यम परमात्न ॥ १४१ ॥

अर्थ—है मध्य जीव । बहुत फइनेसे क्या लाभ है । थोड़ेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि बहिरात्माके स्वरूपको धारण करनेवाले जितने माव है उन सबका त्याग कर देना चाहिये और मध्यम आत्मा तथा परमात्माके जो यथार्थ स्वभाव है उन सबको धारण कर लेना चाहिये ।

मात्रार्थ-बहिरात्माके माव धारण करना तीव्र दुःखके कारण है एषलिये



मोक्षस्वगहगमणकारणभूयाणि पसच्छुपुण्ड्रकाणि ॥ १४३ ॥  
 ताणि हवे दुविद्वेषा वत्युसरूवाणि भावाणि ॥ १४३ ॥

शिवगतिगमकारण अन्तु पुण्यप्रशस्तद्व हेत ।

सो दो विधि ध्यातम दत्त मात्रसरूप समेत ॥ १४३ ॥

अर्थ—अंतरात्मा और परमात्माके जो वास्तविक भाव होते हे वे मोक्षगतिसमे  
 पंचनेके कारण होते हे और अविद्यय पुण्यके कारण होते हे और परंपरासे

मावार्थे—अंतरात्मा जीवके भाव साक्षात् पुण्यके पद पुरुषोंके पद अंतरात्माको  
 मोक्षके कारण होते हे । इन्द्र धरणेन्द्र गगधर आदि महा पुरुषोंके पद मोक्ष प्राप्त करते हे ।  
 ही प्राप्त होते हे तथा अंतमें तीर्थकार वा अन्य केचलीपद पाकर मोक्ष प्राप्त करना वा गंधकृटी-  
 परमात्मा जसी मन्में सिद्ध पद प्राप्त करता हे तथा साधमें समवसरण वा गंधकृटी-  
 की अनुपम विभूतिका अनुभव करता जाता हे । यह उसके साविद्यय पुण्यकी  
 महिमा हे । इसलिये अंतरात्मा बनकर परमात्मा बननेका प्रयत्न करना चाहिये  
 जिससे शीघ्र ही मोक्षपदकी प्राप्ति हो ।

मिथ्य हर्षे बहिरात्मा फलं हृदि अक्षयम् ।

मध्य संत उच्यते द्विधा परमहंसि चिन्मयम् ॥ १४६ ॥

अर्थ— पटले दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें रहने वाले जीव बहिरात्मा हैं । चौथे गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पगृह जीव अष्वन्य अंतरात्मा हैं । फिर पाँचवे गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ऊपर ऊपर बढ़ते हुए अधिक अधिक विधुच्चि भाषण करते हुए मध्यम अंतरात्मा हैं । बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उच्यते अंतरात्मा हैं । तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती केराली भगवान सकलपरमात्मा हैं और सिद्धपरमेष्ठी निकलपरमात्मा हैं ।

मूढत्तयसहत्तयदोसत्तयदंडगारवत्तयेष्टि ।  
परिगुच्यो जोह सो सियगक्षपणायगो छोहं ॥१४७॥

मूढराक्षसगददंडत्रय दण्डगारवत्रयदोष ।

सो ओगी हंतें रदित भाषकः पणगति गोय ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो योगी देय मूढता, मुठपूढता और लोकभूढता इन तीनों भूढताओंसे लेशम दे. वाया भिष्यता-र जीव सिद्धता मध्य सोनें अणुयोंके रक्षित हैं. अणुयोंके जीव

ज्ञानना मत्यात्रयक है । परमात्माका स्वरूप जाने बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता । तथा परमात्मका ज्ञान किये बिना यह आत्मा परमात्मा बन नहीं सकता । मतएव इस आत्माको परमात्मा बननेके लिये परमात्माका स्वरूप जानकर उसका ज्ञान करना चाहिये । जो मन्वज्जीव इसमकार परमात्माका ज्ञान करता है वह अवश्य ही मोक्ष पहुँचता है ।

बहिरंतरूपभेयं प्समयं भण्णप् जिणिदेहि ।

परमप्यो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥ १४५ ॥

बहिरंतर त्रिय परसमय यह जिनेश्वर देव ।

परमात्म ससमय यह भेद सुगुन टानेत्र ॥ १४५ ॥

अर्थ—भगवान् जिनन्द्रदेवने बहिरात्मा और अंतरात्माको परसमय बतलाया है तथा परमात्माको स्वसमय बतलाया है । इनके विशेष भेद गुणस्थानोंकी अपेक्षा से समझ लेने चाहिये । सो ही आगे बतलाते हैं ।

मिस्सोत्ति चाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा ।

संतोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ॥ १४६ ॥

षट्चिह्नंतरंगंधविमुक्तो सुद्वोषजोयमंजुचो ।  
मृत्तरगुणपुण्यो सिवगहपट्टणायगो द्योई ॥ १४९ ॥

बहिरभ्यन्तरं च विन युद्धि भोग संयुक्त ।

मृत्तरगुणपूरु छिन्न विनय नायक उक्त ॥ १४९ ॥

अर्थ-जो मुनि साध आभ्यन्तर दोनो प्रकारके परिग्रहोंसे रहित है, जो सदा सुद्वोष-  
पयोगमें स्थान रहता है और जो मृत्तुगुण और उतार गुणोंको पूर्ण रीतिसे पालन करता  
है वह मुनि अखण्ड ही मोक्ष प्राप्त करता है. इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ।

जं जाहजरागणं दुहदुट्टविमहिविसविणामयरं ।  
सिवसुहृन्नाहं मग्ग मंभा इ सुणइ साहए साहु ॥१५०॥

जन्म बग ५५५ दुह दुह कट्टिविर नाण करेव ।

जो मग्गिक्क वि (ज न मुनि मग्ग घोरइ ॥१५०॥

अर्थ-मोक्षको निद कग्गेण्टे हे माधु ! गुणो और इसकी भावना करो कि यह  
पारंकर जन्म मग्ग और बुद्ध्या आदिके समस्त दुःखोंको दूर करनेवाला है  
अच्छ करो विषोको दूर करनेवाला है और सारे विन्द आदिके समस्त विषोंको दूर







करनेवाला है। इसके सिवाय यह सम्पदार्थन मोक्षगुणको प्राप्त करानेमें प्रधान कारण है यह निश्चय बनो।

किं बहुणा हो द्विंदाहिदणरिदगणघरिदिहि ।

पुत्रा परमप्या जे तं जाण पहाण सम्मगुणं ॥ १५१ ॥

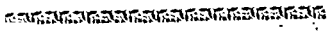
बहुत बड़ा कष्ट है कनिद ईद नरिद गण्डि ।  
 पूत्र परम कृतम त्रिके सनक्ति प्रधान विद ॥ १५१ ॥

अर्थ—बहुत करनेसे क्या लाभ है धोरेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि मग-  
 बान अरहंत परमात्मा और सिद्धपरमात्मा जो देवेन्द्र, धर्येन्द्र, पद्मचर्वा और गण-  
 धर देवादिकके द्वारा पूज्य हुए हैं सो सम्पदार्थन गुणकी प्रधानतासे ही हुए हैं।

माचार्य—सम्पदार्थनके माहात्म्यसे ही अरहंत और सिद्धपरमेष्ठी पद प्राप्त  
 होता है। इसलिये सम्पदार्थनको धारण करना प्रत्येक मध्यजीयका कर्तव्य है।

उवसमईसम्भत्तं मिच्छत्तवलेण पेल्लण सत्स ।

परिवहंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ॥ १५२ ॥







अनेककाल तक बागार संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है । संसारसे पार कर देने वाला एक सम्पूर्ण ही है । सम्पूर्ण दर्शनके सिवाय अन्य किसीसे भी मोक्षसुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

वसन्तीपडिमोचरणे गणगच्छे समयसंघजाहकुले ।

सिस्सपडिसिस्सच्छत्ते सुयजाते कप्पडे पुच्छे ॥ १६१ ॥

पिच्छे संत्थरणे इच्छासु लोहेण कुणह ममयारं ।

यावच्च अट्टरुहं ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं ॥ १६२ ॥

वसन्त पडिम उपकरण गुण, गच्छसमय संघ जाति ।

कुल शिर प्रतिशिय द्वात्र सुत, जात सुपट पुपभाति ॥ १६१ ॥

विधि सांपरात त्यागमुख, सोम कर १ ममकार ।

तावत् आत रत्न सुख नदि, मुंचत धनगर ॥ १६२ ॥

अपे वसन्तिका, प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, समय, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, विद्यार्थी, पुत्र, पात्र, कपडे पुस्तक, पीछी, संस्तर ( बिछोना ) इच्छा आदिमें लोभसे जो कष्ट ममत्व करता है तथा ममत्व करनेके कारण अपवक आतिष्यान और रोद्र-

मात्रार्थ—धुनझन वा मगरान आरंभदेव मणीव शास्त्रीका अभ्यास करनेसे आरम्भानकी प्राप्ति होती है। आरम्भके ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे वैराग्य संपन्न और धनदायकी तलरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार इन सबका मूलकारण शास्त्रीका अभ्यास है। इसलिये मन्पञ्चीनोंको सबसे पहले शास्त्रीका अभ्यास करना चाहिये।

कालप्रणतं जीवो मिच्छसत्त्वेण पंचसंसारैः ।  
द्विददि ण ल्हं मभं संसारभ्रमणपारंभो ॥ १५७ ॥

काल अनंतह जीव यह, मृया पंचसंसार ।

द्विदं सुनक्तिन ना ल्हं, भवभव भ्रमण प्रकार ॥ १५७ ॥

अर्थ—अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करनेवाला यह जीव मिथ्यात्वकर्मके लक्ष्यसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, मय, भावरूप पंच परावर्तनमय संसारमें परिभ्रमण करता आया है। इस अनंतकालमें भी इस जीवको अवतक सम्परादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई।

मात्रार्थ—सम्परादर्शनके प्राप्त होनेसे फिर यह जीव पंच परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण नहीं करता; परंतु यह जीव बराबर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। इससे भिन्न होता है कि इसको अर्थात्क सम्परादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई। इसलिये मन्पञ्चीनोंको सबसे पहले सम्परादर्शन धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जिर्णालिग परो जोई विरायसम्भत्तसंजुदो णाणी ।  
 परमोवेत्तस्माहरियो सिवगइपहणापगो दोई ॥ १६४ ॥

जिन लिपी कोरी बुद्ध, सम्भवन्न विराग ।

परम पितरकी नेश्चन्दि, एतत्तत्त दोर जाग ॥ १६४ ॥

अर्थ—विश्व हजिने जिर्णालिग धारय कियारै, नग्न दिग्गम्बर अवस्था धारण की है, जो श्रावणदानसे परिपूर्ण है, परम वैराग्य को धारण करता है, जिसका सम्पूर्ण अर्थ अर्थ शून्य है और जो रागद्वेष से सर्वथा रहित है, दृष्टष्ट उपेक्षामाय व दीवशागधारको धारण करता है ऐसा मुनि मोक्षदा स्वामी अवश्य होता है ।

शार्दाप—सम्भत्तसेवही अर्थसे बुद्धता, दिग्गम्बर अवस्था और परम वैराग्य का अर्थ साधारण कारण है ।

जान करता है तब तक क्या वह मोक्षके सुतेसे बंचित नहीं रहता? नहीं नहीं; वह ब्रह्मबंचित रहता है।

मातृश्रेयं—ओ सुनि किरीश्रेयी मी ममत्व करता है वह मोक्षके सुतेसे अब्रह्म बंचित रहता है तंसे मोक्षका सुत्र कमी प्राप्त नहीं हो सकता।

रयणतयमेव गणं गच्छं गमणस्म मोक्षसुमगस्स ।  
संधो गुणसंधाओ समयो सुलु णिमलो अप्पा ॥१६३॥

रत्नत्रय ही गलु तु गच्छ, गमन काल शिवसंधेय ।

सुव सच्छु शु गुणसन्ध, निर्मल ज्ञातम संप ॥ १६३ ॥

अर्थ—मोक्ष मांगमें गमन करने वाले साधुका रत्नत्रय ही गण और गच्छ है तथा गुणोका सुदूर ही श्रव है और निर्मल आत्मा ही समय है।

मातृश्रेयं—साधुओं को रत्नत्रयमे. उच्चम धर्मा आदि गुणोंसे और निर्मल आत्मासे प्रेम करना चाहिये। इनमें संधया लीन हो जाना चाहिये। यही साधु का गण है यही श्रव है और यही समय है इन्हींमें लीन होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।



निष्कलितं परं जोरं विद्यासमस्तमंजुदो णाणी ।  
 परमेवैषद्याहृदियो निरगणपदनायगो दोहं ॥ १६४ ॥

इति विद्या दोहः सुकृत, सम्पदकृत निरगण ।

परमविद्या नोदोः, पदकृत दोहः कृत ॥ १६४ ॥

अर्थ—विष्णु हृदये विरहितं परमं किंवा ईशान दिग्गज्जर अवस्था धारण  
 की है, जो आनन्दमय-वचन परमेश्वर ईशान वेगनय को धारण करता है, जिसका सम्प-  
 दकृत अन्वय सुदृष्ट है धारण जो परमेश्वर मन्वथा गृह्यते है, उत्कृष्ट उपेक्षाभाव य  
 कोऽप्यपारकृतं परमं कर्मता ईशानः सुनिर्वाच्यता स्वामी अवश्य होता है ।

कारण—सम्पदकृतको अन्वय सुदृष्टता, दिग्गज्जर अवस्था और परम वेगनय  
 के लिये जोष्यद्वयिके साधन कारण है ।

सुभने ध्यापं वेगनयनोभावे विरीद्विचित्रारिचं ।

सुदलीलनहस्र उपन्नइ रयणभारमिजं ॥ १६५ ॥

सम्पदकृत दोहः निरगण कृत, सम्पदकृत दृष्टि ।



इदि सज्जणपुब्जे रयणसारं ग्रंथं गिरालसो णिब्बं ।  
 जो पढह सुणह भावह पावह सो सासयं ठाणं ॥ १६७ ॥

रयणसार यह मह सज्जन प्रंप गिरालस निति ।

पढा सुनर जो वणये भावर लहर निवृत्ति । ॥ १६७ ॥

अर्थ— यह रयणसार नामका ग्रंथ वड़े पड़े सज्जनोंके द्वारा पूज्य है ऐसे इस ग्रंथको जो मुख्य आलस छोड़कर प्रतिदिन पढता है सुनता है, और इसकी भावना करता है इसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति करता है वह अविनाशर मोक्ष स्थानको अवश्य प्राप्त होता है ।

रयणसार समाप्त



# स्वाध्यायोपयोगी ग्रन्थ

ग्रंथोंके नाम	पूर्य	ग्रंथोंके नाम	मूर्य
रादशानुशेषा भाषाटीका सहित	1-	रणसार भाषाटीका	111)
पात्रकेदरी स्तोत्र भाषा टीका सहित	1८)	रविग्रतकथा	-)111
परीथासुख	11)	भक्तामरस्तोत्र	-)
त्रिनपदसागर	१)	सामायिक आलोचनापाठ	-)
मंदयापूजा संग्रह संस्कृत भाषा दोनों	१।)	तत्त्वार्थसूत्रमूल	-)111
शुद्धविद्यतिजिनपूजा कविरामचन्द्रकृत	१)	पंचमंगल	-)
सार्धं नित्य नियम पूजा	11)	श्रीलक्ष्मणा	1)
विनवीसंग्रह	८)	रणकथा	1)
छद्दालासंग्रह तीनों छद्दाले एकसाथ	८)	दानकथा	८)
न्यायबोधक सरल भाषामें	८)		

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था

न० ३७३ अपा चितार रोड, कलकत्ता ।





















